संस्कृत-विमर्शः

(An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal, UGC-CARE Listed)

नवशृङ्खला

संयुक्ताङ्कः 15-16 (जुलाई 2018 - जून 2019) वर्षम् 2019

प्रधानसम्पादकः
प्रो. परमेश्वरनारायणशास्त्री
कुलपतिः

सम्पादकः
डॉ. मधुकेश्वरभट्टः
प्रभारी (शोध-प्रकाशनम्)

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(भारतशासन-मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनः
राष्ट्रियमूल्याङ्कन-प्रत्यायनपरिषदा 'ए'-श्रेण्या प्रत्यायितः मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली

प्रकाशकः
कुलसचिवः
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया
जनकपुरी, नवदेहली-110056

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

© राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

ISSN : 0975-1769

संस्करणम् : 2019

प्रत्यङ्कम् - 50.00

मुद्रकः
डी.वी. प्रिंटर्स
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007
मो.: 9818279798, 9990279798

SAṂSKṚTA-VIMARŚAḤ

(An International Refereed & Peer-Reviewed Research Journal, UGC-CARE Listed)

New Series

Vol. 15-16 **(July 2018 - June 2019)** **Year 2019**

General Editor
Prof. P.N. Sastry
Vice-Chancellor

Editor
Dr. Madhukeshwar Bhat
Incharge (Research & Publication)

Rashtirya Sanskrit Sansthan
(Deemed to be University)
Under Ministry of Human Resource Development
Govt. of India
Accredited by NAAC with 'A' Grade
New Delhi

Publisher :
Registrar
Rashtriya Sanskrit Sansthan
Deemed University
56-57, Institutional Area,
Janakpuri, New Delhi-110056

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

© Rashtirya Sanskrit Sansthan

ISSN : 0975-1769

Edition : 2019

Rs. 50.00

Printed :
D.V. Printer
97, UB, Jawahar Nager, Delhi-110007
Mob. 9818279798, 9990279798

परामर्शदातृ-समितिः

1. **प्रो. वी. कुटुम्ब शास्त्री,**
   36, एवरग्रीन अपार्टमेण्ट, प्लॉट न. 9,
   सेक्टर-7, द्वारका, नई दिल्ली-110075

2. **प्रो. के.वी. रामकृष्णमाचार्युलु,**
   4-45 अपोजिट सत्य सांई मंदिर,
   सत्य सांई नगर, सांई नगर पंचायत,
   तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश) - 517503

3. **प्रो. हृदयरञ्जनशर्मा**
   बी-24/31 के, कश्मीरीगंज, वाराणसी,
   पिन-221010 (उ.प्र.)

4. **प्रो. किशोरचन्द्रपाढ़ी**
   पुरी (उड़ीसा)

5. **प्रो. आजादमिश्रः**
   2/239, विरामखण्डः-2, गोमतीनगरम्
   लखनऊ, (यू. पी.) 226010

6. **प्रो. जि.एस्.आर. कृष्णमूर्तिः**
   राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,
   तिरुपतिः - 517507 (आन्ध्रप्रदेशः)

7. **प्रो. श्रीपादभट्टः**
   राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,
   तिरुपतिः - 517507 (आन्ध्रप्रदेशः)

✦✦✦

Advisory-Board

1. **Prof. V. Kutumba Sastry,**
   36, Evergreen Appartment Plot-9
   Sect. 7, Dwarka, New Delhi-110075

2. **Prof. K.V. Ramakrishnamacharyalu,**
   4-45, opp. Satyasai Mandir
   Stayasai nagar, Satya Sainagar panchayat
   Tirupati (A.P.) - 517503

3. **Prof. Ram Chandra Pandey**
   38, Manas Nagar, Durgakund
   Varanasi (U.P.)

4. **Prof. Kishor Chandra Padhi**
   Puri (Odisha)

5. **Prof. Azad Mishra**
   2/239, Viramkhand-2
   Gomatinagar, Luknow-226010

6. **Prof. G.S.R. Krishnamurty**
   Rashtriya Snaskrit Vidyapeetha
   Tirupati - 517507 (A.P.)

7. **Prof. Shripada Bhat**
   Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha
   Tirupati - 517507 (A.P.)

✦✦✦

समीक्षा-समितिः

1. **प्रो. जयकान्तसिंह शर्मा**
   आचार्यः, श्रीला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

2. **प्रो. रामकुमार शर्मा**
   आचार्यः, जयपुरपरिसरः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, जयपुरम्

3. **प्रो. विष्णुपद महापात्रः**
   आचार्यः, श्रीला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

4. **प्रो. सुकान्तकुमार सेनापतिः**
   निदेशकः (प्र.), मुक्तस्वाध्यायपीठम्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

5. **डॉ. मन्था श्रीनिवासु**
   परियोजनाधिकारी राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

सम्पादक-मण्डलम्

1. **प्रो. ए.पी. सच्चिदानन्दः**
   प्राचार्यः (प्र.), श्रीराजीवगान्धीपरिसरः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, शृङ्गेरी

2. **प्रो. अर्कनाथ चौधरी**
   प्राचार्यः (प्र.), जयपुरपरिसरः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, जयपुरम्

3. **डॉ. आर.जी. मुरलीकृष्णः**
   उपनिदेशकः (प्र.) प्रशासनम्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

4. **डॉ. देवानन्द शुक्लः**
   उपनिदेशकः, शैक्षणिकम्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

Review Committee

1. **Prof. Jaykant Singh Sharma**
   Professor, S.L.B.S.R.S. Vidyapeetham, New Delhi
2. **Prof. Ramkumar Sharma**
   Professor, Jaipur Campus,
   Rashtriya Sanskrit Sansthan, Jaipur
3. **Prof. Vishnupad Mahapatra**
   Professor, S.L.B.S.R.S. Vidyapeetham, New Delhi
4. **Prof. Sukantkumar Senapati**
   Director (I/c) Mukta Swadhyaya Peetham,
   Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi
5. **Dr. Mantha Sriniwasu**
   Project Officer, Rashtriya Sanskrit Sansthan,
   New Delhi

Editorial Board

1. **Prof. A.P. Sacchidananda**
   Principal (I/c), Shri Rajeev Gandhi Campus,
   Rashtriya Sanskrit Sansthan, Sringeri
2. **Prof. Arknath Chodhary**
   Principal (I/c), Jaipur Campus,
   Rashtriya Sanskrit Sansthan, Jaipur
3. **Dr. R.G. Murlikrishna**
   Deputy Director (I/c), (Administration),
   Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi
4. **Dr. Devanand Shukla**
   Deputy Director, (Academic),
   Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi

विषयानुक्रमणिका

	परामर्शदातृ-समितिः		*v*
	Advisory Board		*vi*
	समीक्षा-समितिः/सम्पादक-मण्डलम्		*vii*
	Review Committee/Editorial Board		*viii*
1.	**प्रकृति का संरक्षण-पर्यावरण की स्थिरता का चिरन्तन समाधान**	–प्रो. रमाकान्त पाण्डेय	1
2.	**Vibhakti and Kāraka : Paṇinian Perspective**	–Devanand Shukla & Preeti Shukla	15
3.	**धात्वर्थफलप्रतिपत्तिः**	–डॉ. रामसलाहीद्विवेदी	21
4.	**संस्कृत बालसाहित्य : कुछ चुनौतियाँ**	–डॉ. श्रीमती राजकुमारी त्रिखा	28
5.	**भट्टनागेशरीत्या तार्किकमतनिरसनपूर्वकः शाब्दबोधसहकारिकारणविमर्शः**	–सुश्रीविदुषी बोल्ला	34
6.	**ध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यवस्था**	–प्रो. रामकुमारशर्मा	42
7.	**गुणपदार्थविमर्शः**	–डॉ. मधुकेश्वरभट्टः	48
8.	**संस्कृतशास्त्रे गणितविज्ञानम्**	–डॉ. रावूरि गायत्रीमुरलीकृष्णः	55
9.	**अचिन्त्यभेदाभेदवाद : एक विमर्श**	–डॉ. अंजना शर्मा	62
10.	**मानवता का संदेशवाहक तर्जनी काव्य**	–मंगला ठाकुर	72
11.	**सीतारामशास्त्री प्रणीत सीतारावणसंवादझरी - एक सर्वेक्षण**	–डॉ. वत्सला	82

12. **नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** –टोनी सिन्हा 96

13. **न्यायाभिमताख्यातेः समीक्षात्मकमध्ययनम्** 102
–यशवन्तकुमार त्रिवेदी

14. **शिक्षा के केन्द्र के रूप में संग्रहालयों की भूमिका का अध्ययन** –डॉ. संगीता 109

15. **The Mahabharata and the Iliad : A Comparison** 119
–Dr. Hetal S. Patel
–Dr. Dilip C. Patel

16. **वैयाकरणनये लक्षणावृत्तिविचारः** –डॉ. अम्बरीशकुमारमिश्रः 135

17. **ग्रन्थ-विमर्शः (Book-Review)**
Vada in Theory and Practice : Studies in Debates, Dialogues and Discussions in Indian Intellectual Traditions 140
–Shri Anand Prakash &
–Dr. Balram Shukla

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

प्रकृति का संरक्षण-पर्यावरण की स्थिरता का चिरन्तन समाधान

-प्रो. रमाकान्त पाण्डेय

आचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
जयपुर परिसर

[वेदादिषु शास्त्रेषु प्रकृतेः पर्यावरणस्य च अनेकधा चर्चा कृता वर्तते। तस्या एव प्रकृतेः अनुपालनं कृत्वा वयं पुनः देवत्वं प्राप्नुम इति अस्य लेखस्य वर्ण्यः विषयः। -सं०]

भारत अध्यात्म प्रधान देश रहा है। हमारे ऋषियों, मुनियों और आचार्यों ने अध्यात्म में प्रकृति का और प्रकृति में अध्यात्म का साक्षात्कार किया। प्रकृति मानव से अलग नहीं है। मानव का प्रकृति से उतना ही गहरा सम्बन्ध है, जितना शरीर का प्राण से और प्राण का शरीर से। शरीर के बिना प्राणों की अभिव्यक्ति नहीं आँकी जा सकती और प्राणों के बिना शरीर का अस्तित्त्व नहीं हो सकता, अतः प्राणों की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये शरीर की आवश्यकता है तथा शरीर के अस्तित्व के लिये प्राण परम आवश्यक तत्त्व है। ठीक इसी प्रकार, मनुष्य और प्रकृति का अन्योन्याश्रय और अविभाज्य सम्बन्ध है। विराट् पुरुष की काया का अंग जिस प्रकार मनुष्य है उसी प्रकार समस्त प्रकृति उसकी काया का अंग है।[1] सब कुछ मिलकर उस विराट् पुरुष की विराटता को सिद्ध करते हैं और वह विराट् भी इन सबके योग से सान्त से अनन्त बनता है। कृष्ण तब तक कृष्ण हैं, सान्त हैं, जब तक समग्र ब्रह्माण्ड उनमें अभिव्यक्त नहीं हो जाता तथा ब्रह्माण्ड भी तब तक अपूर्ण है जब तक उसके वैचित्र्य को श्रीकृष्ण धारण नहीं कर लेते।

एकता में अनेकता और अनेकता में एकता की यही प्रतीति अद्वैत का मूल है, भारतीयता का उत्स है और सब में एक के तथा एक में सब के साक्षात्कार का, आत्मानुभव का स्रोत भी है। एकता और अनेकता के इसी सूत्र में हमारी

---

1. पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।। गीता, 11.15।।

लोक परम्पराएं और शास्त्रीय सिद्धान्त परस्पर अनुस्यूत हैं। लोक की व्याख्या करके, उसके औचित्य और अनौचित्य की स्थापना करके शास्त्र समृद्धि को प्राप्त करता है किन्तु लोक कभी चुकता नहीं, उसमें चिर पुरातन होकर भी नूतनता से ओतप्रोत परम्पराएं अपनी सार्थकता से शास्त्र को आकृष्ट करती ही रहती हैं।

प्रकृति पूजा भी विभिन्न लोकपरम्पराओं में सुदृढ़ एवं अन्यतम परम्परा है। हम जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रकृति के आस-पास ही रहते हैं, उसी में साँस लेते हैं और जीते हैं। यह प्रकृति हमारे जीवन का मूलाधार है, तभी तो हम नदी, तालाब, वृक्ष, साँप, पशु, पक्षी इत्यादि को पूजते हैं, उसे अपने में अनुभव करते हैं और उसमें अपने को अनुभव करते हैं। प्रकृति कभी हमारी सहचरी बनती है, कभी मार्ग-दर्शिका बनती है तो कभी माता, पुत्र का जन्म हुआ तो घर में एकत्रित सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंजुल, मन्द समीर के झोकों को अपने घर की ओर से गुजरने का निमन्त्रण देने लगती हैं, सातों समुद्रों से अपनी उत्ताल तरंगों को समेटने और शान्त रखने की प्रार्थना करने लगती हैं। अग्नि की उष्णता, सूर्य का तीव्र आतप, घटाओं की गड़गड़ाहट, बिजलियों की चमक आदि सबको अपने लाल की सुखद नीद के लिये शान्त रहने के लिये कहती हैं और बदले में उनकी पूजा का आश्वासन भी देती हैं। माँ की लोरियों में समाई प्रकृति के गीत सुन कर वह शिशु प्रकृति के अन्तस्तत्त्व से परिचित होता है। बाहर पाँव रखते ही उसका साक्षात्कार करता है और उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। पंचमहाभूतों का पिंड वह शिशु पंचमहाभूतों से ही जन्म भी लेता है और उन्हीं की गोद में खेलता कूदता अपनी जीवन यात्रा के योग्य शक्ति भी प्राप्त करता है।

बघेलखंड के कुछ हिस्सों तथा उससे लगे बुन्देलखंड के कुछ हिस्सों में आम के वृक्ष को रोपित कर पुत्रजन्मोत्सव मनाते हैं तथा पुत्र की ही भाँति उसका उपनयन संस्कार भी करते हैं, उपनयन संस्कार के मध्य 'भवति! भिक्षां देहि' का स्वर सुनकर पूरा गाँव उसे भिक्षा देने के लिये उमड़ पड़ता है, रोपित करने वाले दम्पती बधाई के पात्र बनते हैं और वह वृक्ष भी उस घर का पुत्र माना जाने लगता है। उसी दिन से उसका फल उस घर में खाया जाता है और दान भी किया जाता है।

पुत्र के विवाह से पूर्व आम के विवाह की परम्परा भी दृष्टिगत होती है। पुत्र की बारात निकलने से पहले माता आम के वृक्ष के पास जाती है और विवाह सम्पन्न कराती है। आम की ओट से माँ को यह वचन दिया जाता है कि हे मातः! मैं सदैव तुम्हारी सेवा करूँगा। किसी भी स्थिति में तुम्हारा परित्याग नहीं करूँगा। आम का महत्त्व उसके जातक पुत्र की अपेक्षा अधिक माना जाता है।

यह परम्परा नई नहीं लगती। अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला को विदा करते हुए कण्व वनज्योत्स्ना और सहकार के विवाह की बात करते हैं-

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संगतवती नवमालिकेय-
मस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः॥

पद्य की अन्तिम पंक्ति से कण्व का शकुन्तला एवं वनज्योत्स्ना पर समान स्नेह व्यंजित है। एक पुत्री है, दूसरी लता। किन्तु कण्व के भावभवन में दोनों की प्रतिष्ठा समान आसन पर है। इस प्रकार वृक्षों के साथ हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, हमने उन्हें अपने से अलग नहीं समझा। हमने उनकी परोपकारिता, सहनशीलता, जीवनप्रदता और दानशीलता का अनुभव किया और उसे सीखा। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को वृक्षों का महत्त्व बताते हुये कहते हैं-

पश्यैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान्।
वातवर्षातपहिमान् सहन्तरे वारयन्ति नः॥

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम्।
सुजनस्यैव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः॥

पुत्रपुष्पफलच्छाया मूलवल्कलदारुभिः।
गन्धनिर्यासभस्मास्थितौस्मैः कामान् वितन्वते॥

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थधिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सहा॥[1]

वृक्ष इतने महान् होते हैं कि परोपकार के लिये ही जीते हैं। ये आँधी, वर्षा और शीत को स्वयं सहन करते हैं। इनका जन्म बहुत अच्छा है क्योंकि इन्हीं के कारण सभी प्राणी जीवित हैं। जिस प्रकार किसी सज्जन के सामने से कोई याचक खाली हाथ नहीं जाते उसी प्रकार इन वृक्षों के पास से भी कोई खाली हाथ नहीं जाता। ये हमें पत्र, पुष्प, फल, छाया, मूल, बल्कल, इमारती और जलाऊ लकड़ी, सुगंध, राख, गुठली और अंकुर प्रदान करके हमारी मनोकामनाएं पूरी करते हैं।

ऋग्वेद निःसंकोच कहता है- **वनस्पतिं वन आस्थापध्वम्**

1. श्रीमद्भागवत, 10.22.32-35

निर्जन वन में, पर्वतों और कन्दराओं में वनस्पतियाँ स्वयं प्रादुर्भूत होती है किन्तु गाँव और नगर में उनको रोपित करना पड़ता है। ऋग्वेद का यह आदेश अनुकरणीय है। यजुर्वेद षधीर्हिंसीः (6.22) कहकर वनस्पतियों का विनाश करने से स्पष्ट रोकता है। वह वृक्षों और वनों को नमस्कार करता है–

नमो वृक्षेभ्यः[1]

वनानां पतये नमः[2]

ओषधीनां पतये नमः[3]

वृक्षाणां पतये नमः[4]

अरण्यानां पतये नमः[5]

ऋग्वेद के अरण्यानी सूक्त (10.46) में वनों की स्तुति करते हुए ऋषि कहता है कि अरण्यानी किसी को दुःख नहीं देती, किसी पर आक्रमण नहीं करती और खाने के लिए इससे स्वादिष्ट फल प्राप्त होते हैं।

अरण्यानी सूक्त में वानप्रस्थ संन्यासिनी बताती है कि यहाँ बिना तानपूरे के ही संगीत का आनन्द मिलता है यहाँ जब वृषारव नामक झींगुर अपने तीव्र स्वर की तान छेड़ता है और चिक्-चिक् शब्द करने वाला दूसरी जाती का झींगुर उसके पास आकर बैठता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो जंगल रूपी गायक संगीत की संगति कर रहा है–

वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते॥[6]

यहाँ जंगल को भय का स्थान नहीं माना गया अपितु निवास योग्य सुन्दर स्थान माना गया है।

भौतिक विज्ञान पर्यावरण प्रदूषण के आठ मुख्य कारणों का उल्लेख करता है –

---

1. यजु. 16.17
2. यजु. 16.18
3. यजु. 16.19
4. यजु. 16.18
5. यजु. 16.20
6. ऋ. 10.146.2

1. कल-कारखानों, मोटर, कार, रेलगाड़ी आदि का धुआँ तथा सूक्ष्म ठोस कण।

2. औद्योगिक संस्थानों का बाहर निकलने वाला कूड़ा-कचरा।

3. परमाणु शास्त्रों के निर्माण के समय उत्सर्जित रेडियो धर्मी कण।

4. खाद तथा कीटनाशक औषधियों के निर्माण में प्रयुक्त विविध कृषि रसायन।

5. वृक्षों और वनों का दिन प्रतिदिन हो रहा विनाश।

6. ज्वालामुखी पर्वतों द्वारा उत्सर्जित गैसें।

7. युद्धास्त्रों में प्रयुक्त ईंधन।

8. वायुयान, कृत्रिम उपग्रह आदि में प्रयुक्त ईंधन[1]।

इन समस्त समस्याओं का समाधान प्रकृति के संरक्षण से ही संभव है, यह भी वैज्ञानिकों का मत है। वेद, उपनिषद्, पुराण आदि इस विषय को बड़ी दृढ़ता से मानव समाज को सिखाते आये हैं।

हमारे सनातन आराध्य श्रीकृष्ण का शैशव वृन्दावन में बीता, वृन्दावन और कुछ नहीं, बस एक घोष था, जिसमें ग्वाले रहते थे। ग्वाले वनों को काटते थे, लकड़ियाँ बेचते थे जिससे वृन्दावन श्रीकृष्ण के देखते देखते नगर का रूप ले रहा था -

प्रक्षीणतृणकाष्ठं च गोपैर्मथितपादपम्।
घनीभूतानि यान्यासन् काननानि वनानि च॥

तान्याकाशनिकाशानि दृश्यन्तेऽथ यथामुखम्।
विक्रीयमाणैः काष्ठैश्च शाकैश्च वनसम्भवैः।
उच्छिन्नसंचयतृणैर्घोषोऽयं नगरायते॥

श्रीकृष्ण के लिये यह चिन्ता का विषय था। उन्होंने गोपों को समझाया। श्रीकृष्ण का कथन था कि हम तो वनचर गोप हैं, गायें ही हमारा धन हैं, गौवों से ही हमारा पेट चलता है, तो वही हमारी देवता हैं। ये वन और पहाड़ भी हमारे देवता है। इसलिये हमें इन्द्र की नहीं गोवर्धन की पूजा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त और कोई हमारा देवता हो ही नहीं सकता-

वयं वनचरा गोप गोपा गोधनजीविनः।
गावोऽस्मद्दैवतं विद्धि गिरयश्च वनानि च॥

---

1. स्वामी विवेकानन्द सरस्वती (सं.), पृ. 31-32

कृष्यन्ताः प्रथिताः सीमाः सीमान्तं श्रूयते वनम्।
वनान्ता गिरयस्सर्वे सा चास्माकं गतिर्ध्रुवा॥

श्रूयन्ते गिरयश्चापि वनेऽस्मिन् कामरूपिणः।
प्रविश्य तास्तास्तनवो रमन्ते स्वेषु सानुषु॥

भूत्वा केसरिणः सिंहा व्याघ्राश्च नखिनां वराः।
वनानि स्वानि रक्षन्ति त्रासयन्तो द्रुमच्छिदः॥

यदा चैषां विकुर्वन्ति ये वनालयजीविनः।
ध्वन्ति तानेव दुर्वृतान् पौरुषादेव कर्मणा॥

मन्त्रायज्ञपरा विप्राः सीतायज्ञाश्च कर्षकाः।
गिरियज्ञा वयं गोपा इज्योऽस्माभिर्गिरिर्वने॥

श्रीकृष्ण ने इन्द्र की पूजा को छोड़कर पर्वत की पूजा का उपदेश दिया। यही पर्यावरण का संरक्षण है जो आज भी हमारे समाज में प्रचलित है। भले ही आज वह प्रतीक रूप में ही मनाया जाता हो तथापि गोबर से बनाये उस गोवर्धन का अपना सांस्कृतिक और वैज्ञानिक महत्त्व तो है ही।

वस्तुतः पर्यावरण शब्द समग्र वैदिक साहित्य या प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुआ। इस अर्थ में हमें परिधि, परिभू, परिवेश, मंडल जैसे शब्द यहाँ प्रयुक्त मिलते हैं। प्राकृतिक पदार्थों से कल्याण की कामना के अर्थ में 'स्वस्ति' पद का भी प्रयोग प्राप्त होता है। सायण स्वस्ति का अर्थ 'अविनाशं क्षेमम्' करते हैं।[1] निरुक्त इसे और भी स्पष्ट करता है- **अलब्धस्य लाभो योगः प्राप्तस्य संरक्षणं क्षेमः'**

ऋग्वेद, दिन-रात, सूर्य-चन्द्र, जल, अग्नि, रुद्र, ऋभु आदि से स्वस्ति की कामना करता है। प्रसिद्ध शान्ति मंत्र के अतिरिक्त अनेक ऐसे मन्त्र हैं जहाँ शान्तिकरण किया गया है-

पृथिवी शान्ति-

शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।[2]

अन्नादि से युक्त पृथ्वी हमारी शान्ति के लिये हो।

---

1. ऋग्वेद 5.51.11
2. ऋ. 7.35.3

अन्तरिक्ष शान्ति-

शमन्तरिक्षं दृश्येनो अस्तु।।[1]

हमारे दर्शन के लिये अन्तरिक्ष शान्तिप्रद हो।

जल शान्ति-

शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः।।[2]

नदी समुद्र और जल हमारे लिये सुखप्रद हों।

अग्नि शान्ति-

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु।।[3]

ज्योतिर्मुख अग्नि हम लोगों के लिये सुखरूप हो।

वायु शान्ति-

शं न इषिरो अभिवातु वातः।।[4]

शीघ्र चलने वाला वायु हम लोगों के लिये सुखरूप हो और सब ओर से बहे।

अथर्ववेद 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (92.1.12) कह कर हम सबको पृथ्वी का पुत्र बताता है। अर्थात् पृथ्वी हमारे लिये माता के समान पूज्य है। माता शिशु को जन्म देती है, उसे पोषती है और उसकी प्रत्येक कामना पूर्ण करती है, अतः वह हमारे लिये विश्व भर में सब से आदर और पूजा की पात्र है। पृथ्वी रत्नगर्भा है, वह अन्न उपजाती है, उसकी कोख से हम अपने आवश्यकता की सारी वस्तुएं प्राप्त करते हैं। हम पृथ्वी के जलस्रोतों, खनिजों और खाद्यों का दोहन करते हैं और वह उन्हें पुनः पूर्ण करती है, चुकने नहीं देती। भूगर्भवैज्ञानिक इसे पृथ्वी की अद्‌भुत शक्ति मानते हैं। अथर्ववेद का ऋषि पृथ्वी से प्रार्थना करता है –

यत्ते भूमे विश्वनामि क्षिप्रं तदभिरोहतु।
माते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।

---

1. ऋ. 10.35.5
2. ऋ. 7.35.8
3. ऋ. 7.35.4
4. ऋ. 7.35.4

अथर्ववेद का ऋषि यह जानता है कि पृथ्वी में कुछ ऐसे पदार्थ हैं जो निकाले जाने पर पुनः प्ररूढ़ हो सकते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी है जो एक बार निकाले जाने के बाद पुनः प्ररूढ़ नहीं हो सकते। इसीलिये वह पृथ्वी से प्रार्थना करता है कि मेरे द्वारा जो पदार्थ तुम्हारे गर्भ से खने जा रहे हैं, वह शीघ्र प्ररूढ़ हो किन्तु वह भी संकेत करता है कि अप्ररूढ़ होने वाले पदार्थों को मनुष्य पृथ्वी के गर्भ से न निकाले।

पृथ्वी समस्त भूतों को जन्म देती है, अतः सर्वभूतधरित्री है। समस्त विश्व का भरण करती है, अतः विश्वम्भरा है, सभी प्राणियों को धारण करती है, अतः धरित्री है, बहुमूल्य खनिज इसके गर्भ में हैं, अतः वसुधानी है। यजुर्वेद गर्व से इसे 'ध्रुवासि धरित्री'[1] कहता है। अथर्ववेद 'विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी'[2] कह कर इसका गुणगान करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया- विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ अगर जल से ओत-प्रोत हैं तो जल किस पर ओत-प्रोत है। इन प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य कुछ आना कानी करते दिखते हैं। वे अनेक पदार्थों को गिनाने का उपक्रम करते हैं किन्तु वह जिस पदार्थ का भी नाम लेते हैं गार्गी वाचक्नवी उस पर प्रतिप्रश्न कर बैठती है- यह किससे ओत-प्रोत है? अन्ततः याज्ञवल्क्य जैसा मनस्वी ऋषि भी अपना आपा खो बैठता है और गार्गी को प्रश्न पूछने से रोकता है-

आगे प्रश्न मत कर गार्गी, कहीं तेरा शिर नीचे न गिर जाय-

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ, याज्ञवल्क्येति होवाच। यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति ..... स होवाच-गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि। गार्गि मातिप्राक्षीरिति। ततो ह गार्गी वाचक्न्व्युपरराम।[3]

गार्गी और याज्ञवल्क्य के इस संवाद से पृथ्वी की महत्ता सिद्ध है। वह सुक्षिति है, सुक्षेमा है, अनेक धर्मों और अनेक भाषा-भाषियों को घर के सदस्यों के समान धारण करने वाली है। इसीलिये वह माता है, जननी है और द्रविण की सहस्त्र धाराएं बहाने वाली है। पृथ्वी के इसी अनन्त्य के कारण भारतीय संस्कृति में वह प्रथम पूज्य है। शैय्या से उठने के पहले हम उससे पादस्पर्श के लिये क्षमा मांगते हैं-**पादस्पर्शं क्षमस्व मे।**

1. यजु. 14.22
2. अथर्व. 12.1.6
3. बृहदा. 3.6.1

हमारी परम्परा में वृक्ष साक्षात् पुत्र माने गये हैं। यह कहा गया है कि पेड़ पुत्रहीन को भी पुत्रवान् बना देते हैं। एक अश्वत्थ का वृक्ष सैकड़ों पुत्रों से भी बढ़कर है। इसलिये जितना हो सके पेड़ लगाना चाहिये। बेटे पिता का अन्तिम संस्कार या श्राद्ध आदि करेंगें या नहीं किन्तु पेड़ तो हमेशा ही श्रेयस्कर अर्थ को जन्म देते रहते हैं। जो पेड़ लगाता है वह स्वयं तीर्थस्वरूप बन जाता है। वह सदैव दान देने वाला तथा यज्ञ करने वाला बना रहता है–

अपुत्रस्य हि पुत्रत्वं पादपा इह कुर्वते।
यत्नेनापि च विप्रेन्द्र अश्वत्थारोपणं कुरु॥

शतैः पुत्रसहस्त्राणामेक एव विशिष्यते।
कामेन रोपयेद्विप्रा एकद्वित्रिसंख्यया॥

पुत्राः संवत्सरस्यान्ते श्राद्धं कुर्वन्ति वा न वा।
प्रत्यहं पादपाः पुष्टिं श्रेयोऽर्थं जनयन्ति हि॥

मनुस्मृति वृक्ष को काटने वाले या विनष्ट करने वाले को दण्ड विधान करती है। जो भी व्यक्ति वृक्ष को हानि पहुँचाता है वह दण्डनीय होता है। मत्स्यपुराण इस विषय में स्पष्ट निर्देश देता है –

वृक्षं तु सफलं छित्वा सुवर्णं दण्डमर्हति।
द्विगुणं दण्डयेच्चैवं पथि सीम्नि जलाशये॥

छेदनादफलस्यापि मध्यमं साहसं स्मृतम्।
गुल्मवल्लीलतानां च सुवर्णस्य च माषकम्॥

वृथा च्छेदी तृणस्यापि दण्ड्यः कार्षापणं भवेत्।
त्रिभागं कृष्णाला दण्ड्याः प्राणिनस्ताडने तथा॥

देशकालानुरूपेण मूल्यं राजा द्रुमादिषु।
तत्स्वामिनस्तथा दण्ड्या दण्डमुक्तस्तु पार्थिव॥

यत्रातिवर्तते युग्यं वैगुण्यात् प्राजकस्य तु।
तत्र स्वामी भवेद् दण्ड्यो प्राप्तश्चेत्प्राजको भवेत्॥[1]

भारतीय परम्परा अनादिकाल से वृक्षों को प्राणवान मानती रही है। वह यह भी मानती है कि वृक्षों में भावना और विचार सकती है मनु कहते हैं– "अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः"[2]। मनु की इस घोषणा के लगभग दो हजार साल बाद महान् वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस ने इस मत को पूर्णतः

1. मत्स्य. – 227/91–95
2. मनु. 1.49

वैज्ञानिक सिद्ध किया तथा इसे प्रमाणित भी किया। बोस ने यह सिद्ध किया कि वृक्षों में उत्तेजना का संचार वैद्युतिक माध्यम से होता है केवल केमिकल माध्यम से नहीं। उन्होंने पौधों पर बदलते हुए मौसम से होने वाले प्रभाव का भी अध्ययन किया।

यदि वृक्ष प्राणवान् और विचारवान् हैं तो उन्हें पुत्र का स्थान देना अनुचित नहीं है। पुत्र "पुं" नामक नरक से रक्षा करता है इसलिये वह मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि और सबसे बड़ी सम्पत्ति है। मत्स्यपुराण एक वृक्ष को दश पुत्रों के समान मानता है तथा उसे पुत्र से भी अधिक महत्त्व देता है-

दशकूपसमा वापी दशवापीसमो ह्रदः।
दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः॥[1]

अर्थात् एक बावड़ी दश कुओं के बराबर होती है, एक ह्रद (तालाब) दश बावड़ी के बराबर होता है तथा एक पुत्र दश ह्रद के समान होता है और एक वृक्ष दश पुत्रों के समान होता है। इससे स्पष्ट है कि वृक्षारोपण को हमारी पुराण परम्परा पुत्र से भी बढ़कर महत्त्व देती है। पर्यावरण मंत्रालय ने उपर्युक्त श्लोक के आधार पर "एक वृक्ष दश पुत्र समान" जैसा नारा बनाकर जनसामान्य में पर्यावरण चेतना को जगाने के लिये जगह-जगह पर उल्लेख किया है।

मेरा मानना है कि लोक शास्त्र की अपेक्षा कहीं अधिक सजग होता है। लोकोक्तियों में निहित पर्यावरण विषयक विचार शास्त्र और विज्ञान दोनों को चमत्कृत करते हैं और उन्हें परीक्षण के लिये प्रेरित करते हैं। भारत कृषि प्रधान देश रहा है, अतः वृष्टि विज्ञान पर यहाँ अनेक ग्रन्थों का प्रणयन स्वाभाविक है। पं. मधुसूदन ओझा का जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय से प्रकाशित कादम्बिनी नामक वृष्टि विज्ञान विषयक ग्रन्थ लोक, शास्त्र और विज्ञान के आधार पर वृष्टि के योग पर विचार प्रस्तुत करता है। पं. मधुसूदन ओझा लिखते हैं-

ज्येष्ठकृष्णाष्टमी चन्द्रे मेघाच्छन्नं न दर्शयेत्।
जलपूर्णा तदा पृथ्वी निर्मलेन्दुरवृष्टिकृत्॥[2]

अर्थात् ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष अष्टमी का चन्द्र यदि काले बादलों के कारण न दिखायी दे तो समझो पृथ्वी पर खूब बरसात होगी। यदि उस रात चन्द्रमा दिखाई दे तो सूखा पड़ेगा, यह समझना चाहिए।

इस विषय में लोक की स्पष्ट राय है-

---

1. मत्स्य. 154.592
2. कादम्बिनी, पृ. 83

असाडौ धुर अष्टमी
चन्द्र सेवरा छाय
चार मास चवतो रहै
जिड भाड़ै रै राय

पं. मधुसूदन ओझा का यह ग्रन्थ पूर्णतः पर्यावरण पर आश्रित है। लोक के हजारों वर्षों के अनुभव को साक्ष्य पाकर प्रणीत यह ग्रन्थ निश्चय ही समकालीन संस्कृत वाङ्मय की महती उपलब्धि है किन्तु पर्यावरण के प्रदूषित हो जाने पर क्या इस विज्ञान के लिये अपेक्षित घटनायें घट सकती हैं? यदि घटीं भी तो क्या उन पर जनमानस विश्वास कर सकता है।

आषाढ़ शुक्लपक्ष की नवमी के दिन बिजली चमके और बादल चढ़े तो समझो वृष्टि होगी किन्तु यदि उस दिन बादल न चढ़े और बिजली न चमके तो दुर्भिक्ष निश्चित है-

शुक्लाषाढे नवम्यां तु विद्युद् घनघटा शुभा।
न विद्युतो न वा मेघा दुर्भिक्षं स्यादवृष्टितः॥

इसी बात को घाघ इस प्रकार कहते हैं-

शुक्रवार की बादरी रही शनीचर छाय।
घाघ कहैं घाघिन से बिन बरसे नहिं जाय॥

लोक का एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है-

श्रावणशुक्ला सप्तमी जो गरजै अधरात।
तु जैओ पिय मालवा हम जैबे गुजरात॥

लोक या शास्त्र के इन अनुभवों के आकलन के लिये भी पर्यावरण उतना ही आवश्यक है जितना हमारे जीवन के लिये। मौसम विज्ञान की भविष्यवाणियों से टक्कर लेती लोक में फैली घाघ की उक्तियों या कादम्बिनी जैसे ग्रन्थ जलवायु परिवर्तन की मार से झूठे हो रहे हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन का कथन है कि जब प्राकृतिक तथा अन्य जलस्रोत किसी विजातीय जल में मिश्रित हो जाते हैं तो वह जल जीवधारियों तथा वनस्पतियों के लिये हानिकारक हो जाता है। उससे ऑक्सीजन की मात्रा भी कम हो जाती है और उसके दुष्प्रभाव से महामारी फैलती है।

इसी बात को चरक भी कहते हैं-

पिच्छिलं कृमिलं क्लिन्नं पर्णशैवालकर्दमैः।
विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धं न हितं जलम्॥

चिकनाई से युक्त, जिसमें कीड़े पड़ गये हों, जिसमें पत्ते, शैवाल और कीचड़ सड़ रहे हों, विवर्ण, नीरस और दुर्गन्धयुक्त जल उपयुक्त नहीं होता। अत एव हमारी परम्परा में जल को सदैव पवित्र रखने की बात की जाती रही है। किसी जलाशय के निकट, पवित्र नदी के तट पर मल, मूत्र आदि का त्याग पूर्णतः वर्जित है-

मूत्रं वाऽथ पुरीषं वा गङ्गातीरे करोति यः।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य जन्मकोटिशतैरपि॥

उच्छिष्टं कफकं चैव गङ्गागर्भे च यस्त्यजेत्।
स याति नरकं घोरं ब्रह्महत्यां च विन्दति॥[1]

यहाँ गंगा को महान् जलाशय का प्रतीक मान कर चिन्तन करें तो हमें प्रत्येक जलाशय की शुद्धि की प्रेरणा प्राप्त होती है। गंगा, यमुना आदि जैसी महानदियाँ, हमारे अन्य अनेक महान् जल स्रोत मानवकृत् प्रदूषण से दूषित हो चुके हैं। पेय जल का संकट विश्व के प्रत्येक देश के समक्ष अनसुलझी पहेली की तरह खड़ा है और हम अपने को सुधारे बिना उसे देख रहे हैं।

संस्कृत वाङ्मय में पर्यावरण विषयक अनेक कथन उपलब्ध हैं जिनके लिये अनेक प्रबन्धों की आवश्यकता है। वह यदि विराट् पुरुष की काया के रूप में समस्त ब्रह्माण्ड को देखता है तो वृक्ष के प्रत्येक अंग में भी उस विराट् पुरुष के दर्शन करता है। स्कन्दपुराण अश्वत्थ वृक्ष के मूल में विष्णु स्कन्द में केशव की, शाखाओं में नारायण पत्तों में भगवान हरि इत्यादि की स्थिति का उल्लेख करता है-

मूले विष्णुः स्थितो नित्यं स्कन्धे केशव एव च
नारायणस्तु शाखासु पत्रेषु भगवान् हरिः।
फलेऽच्युतो न सन्देहः सर्वदेवैः समन्वितः।

स एव विष्णुर्द्रुम एव मूर्तौ
महात्मभिः सेवितपुण्यमूलम्।
यस्याश्रयः पापसहस्त्रहन्ता
भवेन्नृणां कामदुघो गुणाढ्यः॥[2]

इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में वृक्ष और वृक्ष में समस्त ब्रह्माण्ड व्याप्त है। वृक्ष विराट् पुरुष का अंग है और विराट्पुरुष वृक्ष का अंग है। दोनों एक दूसरे

---

1. पद्मपुराणम्, क्रियायोग. 8.8-10
2. स्कन्द.पु. नागरखं. 247.41,42,44

के पूरक हैं। वृक्ष नारायण में रहता है और नारायण वृक्ष में। इस प्रकार दोनों परस्पर भिन्न होकर भी अभिन्न हैं और अभिन्न होकर भिन्न भी हैं। जहाँ आत्मा है, विचारशक्ति है, श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया है, विज्ञान उसे जीवधारी मानता है। शास्त्र प्रत्येक जीवधारी में नारायण की स्थिति को प्रमाणित करता है और नारायण को जीवधारी से अभिन्न भी मानता है।

हम स्वस्तिवाचन करते हैं- स्वस्ति नः। हम दीर्घायु होना चाहते हैं- जीवेम शरदः शतम्, हम समस्त सुख भोगना चाहते हैं, कल्याणपरम्पराओं को आत्मसात् करना चाहते हैं, कम में अनेक और अनेक में एक का प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, अनुभव करना चाहते हैं किन्तु हम सुखद अन्त की भी कामना करते हैं, वहीं समाना चाहते हैं जहाँ से हम आये हैं, उन्हीं पंचभूतों में। मैं ऋग्वेद के मृत्युसूक्त के एक मंत्र से अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा। जहाँ ऋषि एक मृतक को सम्बोधित करता हुआ कहता है-

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा
द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हित-
मोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥

हे मृत्यु को प्राप्त मानव!
तुम्हारी आँखें सूर्य में समा रही हैं,
तुम्हारी आत्मा मिल रही है
वायु से
तुम अपने पुण्य के प्रताप से
स्वर्गलोक को जाओ
अथवा पानी या पृथ्वी पर रहो
जहाँ तुम्हारा कल्याण हो वहाँ रहो
अथवा सूक्ष्म शरीर लेकर
फिर से जन्मो
वृक्षों में, ओषधियों में।।

ऋग्वेद हमारे प्रत्येक तत्त्व के उससे सम्बद्धतत्त्व में समा जाने की कामना करता है और हमें फिर पौधों और वनस्पतियों के रूप में उगने का आशीर्वाद देता है। काश, हम समझें ऋग्वेद के इस मर्म को और वृक्षों की रक्षा करें। पर्यावरण को सुधारें। क्या पता इनमें से कोई हमारा पूर्वज हो, जो पेड़ बन कर आ गया है पृथ्वी की रक्षा के लिये।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1. सातवलेकर, दामोदर, ऋग्वेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1985
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर
3. श्रीमद्भागवत महापुराण, गीताप्रेस गोरखपुर
4. आर्य, कमलनारायण, वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण एवं प्रदूषण, स्वामी दिव्यानन्द प्रकाशन, रायपुर (म.प्र.), 1998
5. सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द (सं.), आधुनिक पर्यावरण समस्या, वैदिक समाधान, स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, मेरठ, 1993
6. वेदालंकार, रामनाथ, मधुवृष्टि, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली, 2000
7. ओझा, मधुसूदन, कादम्बिनी, पं. मधुसूदन ओझा प्रकोष्ठ, जोधपुर, 2003
8. शुक्ला, रत्ना, भूरिया, कुसुम, संस्कृत साहित्य में पर्यावरण, सत्यं पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2013
9. पाण्डेय, रमाकान्त (सं.) संस्कृत विमर्श (शोध पत्रिका, अंक - 9), रा.सं.सं., नई दिल्ली, 2013
10. शास्त्री, शंकरलाल, संस्कृत वाङ्मय में पर्यावरण, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2008।

✦✦✦

Saṃskṛta-Vimarśaḥ -2019 (Vol. 15-16) ISSN : 0975-1769

Vibhakti and Kāraka: Paṇinian Perspective

Devanand Shukla &
Preeti Shukla

Rastriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University) New Delhi &
Department of Sanskrit Studies
Unversity of Hyderabad, Hyderabad

[अस्मिन् शोधपत्रे पाणिनीयव्याकरणदृष्ट्या विभक्तीनां कारकाणाञ्च विचारः कृतो वर्तते। सप्तविभक्तयः भवन्ति तासां विभक्तीनां कः अर्थः? कारकविभक्तेः प्रवृत्तिः कथं संभवति इति विचारः अत्र प्रस्तुतः। -सं०]

In Sanskrit both the *sup* and *tiṅ* suffixes are termed as vibhakti pratyayas[1]. Sup suffix is added to a nominal stem and *tiṅ* suffix is added to a verbal root. The vibhakti in Sanskrit represents the relations between a noun and a verb or two nouns. It is possible that because of change in vivakṣā (speaker's intention), the kāraka relation between a noun and a verb changes and so does its surface realisation in terms of vibhakti. We discuss in this paper the concept of vibhakti and its relation to kāraka through Pāṅinian perspective.

Nominal vibhakti classification in Sanskrit:

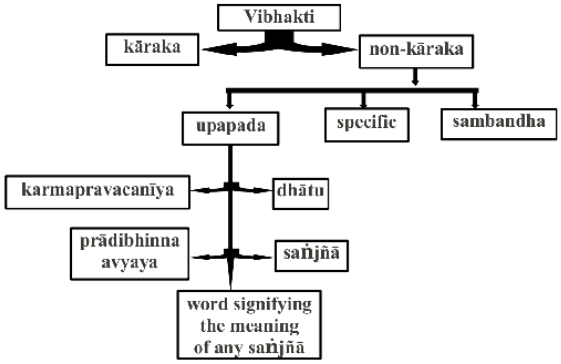

1. Vibhaktiśca (supatiṅau vibhaktisaüjñau staḥ - S.K.) (P-1.4.104)

The seven vibhakti markers in Sanskrit terminology are prathamā, dvitīyā, tṛtīyā, caturthī, pañcamī, ṣaṣṭhī and saptamī (first, second, third, fourth, fifth, sixth and seventh case suffix respectively). Pāṇinian sūtras 'anabhihite' till 'caturthī cāśiṣyāyuṣya' (P -2.3.1-2.3.73) focuses only on vibhakti. The vibhakti in Sanskrit is broadly classified into two kinds as shown in the above figure, viz.,

Kāraka vibhakti:

Vibhakti expressing the relationship with a verbal activity is termed as kāraka vibhakti. All the seven case suffixes are used as kāraka vibhaktis. Except the sixth case suffix which denotes the relationship of a word with another.

Non-kāraka vibhakti:

That vibhakti which is not directly related to kāraka is termed as non-kāraka vibhakti. This is further classified into three types as follows:-

Upapada vibhakti -

Those vibhaktis which are used in connection with certain words, or with certain types of words are known as upapada vibhaktis[1]. Here too almost all the seven case suffixes are used as upapada vibhaktis. Upapada vibhakti is of five types[2] :

Karmapravacanīyā:

According to कर्मप्रवचनीयाः (P-1.4.83), karmapravacanīyā is "that which previously expressed a verbal activity but presently it does not"[3]. Even Bhartṛhari has stated in his work 'Vākyapadīyam' that karmapravacanīyā is neither a dyotaka of an action nor a vācaka of a relation but a specifier (bhedaka) of certain other relations like the lakṣyalakṣaṇa relation[4]. Here dyotaka in the sense it is different from the typical function words such as the vibhaktis. For example, 'japam anu prāvarṣat' - here anu does not denote the action nor does it

1. Padam āśritya jāyamānā vibhaktiḥ upapadavibhaktiḥ
2. This classification is based on Tripathi [1977]
3. Karma kriyāü-proktavantaḥ prakāśayantaḥ karmapravacanīyāḥ iti-M.Bh on P-1.4.83
4. kiyāyā dyotako nāyaü sambandhasya na vācakaḥ।
   nāpi kriyāpadāpekṣī sambandhasya tu bhedakaḥ।। -V.P.2.204

signify the general relation which takes the sixth case suffix but it specifies a special relationship that of lakṣyalakṣaṇabhāva. So, japa is the lakṣaṇa (the reason to cause rain which is the lakṣya) expressed through the karmapravacanīya anu. Thus japa takes the second case suffix from the rule कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (P-2.3.8)

Panini has listed around 11 karmapravacanīyās which are discussed in sūtras 1.4.82-1.4.97, viz., anu, upa, apa, pari, āṅ, prati, abhi, adhi, su, ati and api in the senses of *hetulakṣaṇa, sahārtha, hīnatā, ādhikya, varjana, maryādāvacana, lakṣaṇa, itthambhutākhyāna, bhāga, vipsā, pratinidhi, pratidāna, ānarthakya, pūjā, atikramaṇa, padārtha, sambhāvana, anvavasarga, garhā, samuccaya, svāmya and adhikāra*.

Pradibhinna avyaya :

Words in connection with those indeclinables which are different from prādi (pra etc., indeclinables) such as :

In conjunction with the indeclinable *antarā or antareṇa*, the word takes the second case suffix[1]. e.g.,

'antarā devavāṇiü mā vyāhārṣiḥ'.

In conjunction with the indeclinable *saha*, the word takes the third case suffix[2]. e.g.,

'mata putrena saha agacchati'.

'In conjunction with the indeclinable *vinā*, the word takes the second, third and fifth case suffix[3]. e.g.,

'dharmam/ dharmeṇa/ dharmāt vina na śobhate vidyā'.

'In conjunction with the indeclinables namaḥ, svasti, svāhā, svadhā, alam and vaṣaṭ, the word takes the fourth case suffix[4]. e.g.,

'gurave namaḥ', 'sarvebhyaḥ svasti', etc.

Sañjñā:

Words in connection with substantives like *svami, svāmī, īśvara, adhipati, dāyāda, sākṣin, pratibhū, prasūta, āyukta, kuśala*, etc. take

1. Antarāntareṇayuke-P-2.3.4
2. Sahayukte'pradhāne-P-2.3.19
3. pṛthagvinānānābhistṛtīyā'nyatarasyām-P-2.3.32
4. Namaḥ svastisvāhāsvadhā'laüvaṣaḍyogācca-P-2.3.16

the sixth as well as seventh case suffix[1]. e.g.,

'gavām/ goṣu svami', 'āyuktaḥ haripūjanasya/ haripūjane', etc.

Dhātu:

In conjunction with some verbal roots such as *nāth, jāsi, han, nāṭ, krath, piṣ,* etc., the word takes the sixth case suffix[2]. e.g.,

'sarpiṣo nāthate', 'caurasya ujjāsayati', etc.

Word signifying the meaning of any sañjñā:

In conjunction with any word denoting the meaning of substantives such as those in the sense of *dūra* and *antika*, the word takes the fifth as well as sixth case suffix[3]. e.g.,

'vanāt/vanasya dūram, viprakṛṣṭam, antikam, abhyāśam'.

Specific vibhakti -

Those substantives in the sense of *dūra* and *antika* specifically take the second, third and fifth case suffix. These vibhaktis do not have any independent sense but they take the sense of *dūra and antika*[4]. e.g.,

'vanasya dūram/dūreṇa/dūrāt', 'vanasya antikam/antikena/ antikāt'.

Sambandha vibhakti -

That vibhakti which expresses the relationship in general of one word with another is termed as sambandha vibhakti[5]. Various relationships such as svasvāmibhāva (owner-owned), aṅgāṅgībhāva (part-whole), janyajanakabhāva (produced-producer), etc. come under this. For instance, in the sentence 'sureśasya putrī sundarī asti' - the word sureśa is related to the word putrī through janyajanakabhāva relation and takes the sixth case suffix.

---

1. svāmīśvarādhipatidāyādasākṣipratibhūprasūtaiśca-P-2.3.39, āyuktakuśalābhyāü cāsevāyām P-2.3.40
2. āśiṣi nāthaḥ-P-2.3.55, jāsiniprahaṇanāṭakrāthapiṣāü hiüsāyām-P-2.3.56
3. dūrāntikārthaiḥ ṣaṣṭhyanyatarasyām-P-2.3.34
4. dūrāntikārthebhyo dvitīyā ca -P-2.3.35
5. ṣaṣṭhī śeṣe-P-2.3.50

Kāraka vibhakti relation

Each kāraka when expressed through the verbal suffix tiṅ takes the first case suffix and in the case of avivakṣā of kārakatva it takes the sixth case suffix denoting the relationship in general. While in other cases due to vivakṣā of kārakatva, the default vibhakti is taken as per the Pāṇinian sūtras 'karmaṇi dvitīyā (P-2.3.2), caturthī sampradāne (P-2.3.13), kartṛkaraṇayostṛtīyā (P-2.3.18), apādāne pañcamī (P-2.3.28) and saptamyadhikaraṇe ca (P-2.3.36)'. Thus at first glance it may seem that there is one-to-one mapping between kāraka and vibhakti but this may not be as it seems. Sometimes a new semantic role other than the default one is expressed, as in the case of sampradāna kāraka which is not restricted in the sense of recipient only but taken also in the following senses:

'mādhavāya rocate, svadate, ślāghate, hnute, tiṣṭhate, śapate, dhārayati, krudhyati, druhyati, īrṣyati, asūyati, rādhyati, īkṣate, pratiśṛṇoti, āśṛṇoti and anugṛhṇāti, pratigṛhṇāti' (P-1.4.32-41).

Here Pāṇini only meant by the above sutras that whatsoever is desired by the kartā through karma is termed sampradāna. Or the above mentioned senses can be taken as atidiṣṭa sampradānatva (imposed sampradana).

Thus though in a language in general the semantic generalisations are captivated through the kārakas, there are exceptions as noticed above. Here are some more examples of imposition of one kāraka over the other:

Of sampradāna with karma:

The term sampradāna is applied in conjunction with the verbal roots krudh and druh but when these roots are with prefixes, then the term karma is applied. e.g., 'duṣṭam abhikrudhyati/ abhidruhyati'.

That which is desired takes the term sampradāna in conjunction with the verbal root spṛh - 'puṣpebhyaḥ spṛhayati' but when it becomes the most desired, it takes the term karma - 'puṣpāṇi spṛhayati'.

Of adhikaraṇa with karma:

Generally all loci are adhikaraṇa but in the following senses these take the term karma: 'gṛham adhiśete, adhitiṣṭhati, adhyāste, upavasati, adhivasati, āvasati' and 'sanmārgam abhiniviśate'.

Of karaṅa with karma and sampradānā:

That which is supplemental takes the term karaṇa but in the case of the verbal root *div* it takes karma as well as karaṇa. e.g., 'akṣān akṣaiḥ vā dīvyati'.

Similarly in the case of the verbal root *krī* with prefix, that which is supplemental takes karaṇa as well as sampradana. e.g., 'śatena śatāya vā parikrītaḥ'.

Sometimes the kartā of the verbal root becomes karma when the verb becomes causal and takes the second case suffix while some remain kartā taking the third case suffix (P-1.4.52 and 53). e.g., 'gamayati grāmaü devadattaü yajñadattaḥ'. 'vāhayati bhāra ü devadattena yajñadattaḥ'.

Similarly typically there is a default vibhakti for each kāraka. However, there are cases where the vibhakti deviates from the default, sometimes even giving optional usages with different vibhakti. We will look at some of them :

1. The object of the verbal root *gam* takes the second as well as fourth case suffix (P-2.3.12). e.g., 'saḥ grāmam/grāmāya gacchati'.

2. The object of the verbal root *hu* takes the second as well as third case suffix. e.g., 'yavāgum/ yavāgvā agnihotraü? juhoti'.

3. The object of the verbal root *jña* with prefix *sam* takes the second as well as optionally the third case suffix (P-2.3.22). e.g., 'pitaram pitrā vā saüjānīte'.

4. The object of the verb *manya* takes the second as well as optionally the fourth case suffix (P-2.3.17). e.g., 'na tvāü tṛṇaü tṛṇāya vā manye'.

5. The words *stoka*, etc. takes the third as well as fifth case suffix (P-2.3.33). e.g., 'stokena stokād vā muktaḥ'.

6. Katyayana accepts that the object of the verb *yaj* takes the term karaṇa and sampradāna takes the term karma (vā. on P-8.1.32). e.g., 'paśuü rudrāya yajate'. 'paśunā rudraü yajate'.

7. He also accepts the seventh case suffix in the object of *kta* ending in the affix in (vā. on P-2.3.36). e.g., 'adhītī vyākaraṇe'.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

धात्वर्थफलप्रतिपत्तिः

-डॉ. रामसलाहीद्विवेदी
सहाचार्यः, व्याकरणविभागः
श्री ला.ब.शा.रा.सं. विद्यापीठम्

[लेखोऽयं व्याकरणशास्त्रय महत्त्वपूर्णं विषयमादाय लेखकेन लिखितः। धातुः कथं फलव्यापारयोः आश्रयो भवति, फलस्य किं लक्षणं भवति, इत्यादयः विषयाः अत्र विचारिताः। -सं०]

"फलं धात्वर्थः" इत्यत्रास्ति प्रायशः सर्वदर्शनविदां सम्मतिः। केषाञ्चिन्मते फलस्य आक्षेपोऽपि विधीयते, परन्तु मतान्तरानुरोधेन फलस्य वाच्यत्वमेव, इदमेव मतं सिद्धान्तभूतम्। तच्च स्वातन्त्र्येण उपस्थितिमत् परतन्त्रेण वा अन्यदेतत्। यतः "फलव्यापारयोः धातुराश्रये तु तिङः स्मृतः"[1] इत्यादि कारिकायां फलस्य धातुवाच्यत्व-मत्यन्तं स्पष्टमुपपादितम्। अत एव फलव्यापारयोः इत्यत्र सप्तमीनिर्देशः संगच्छते। यथा "लः कर्मणि च"[2], "कर्तरि कृत्"[3], "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः"[4] "भावे"[5] इत्यादिसूत्रेषु संकेतग्रहार्थमभीष्टस्य विषयस्य सप्तम्यन्ततोपात्ता। तथैव तादृशं व्यवहारमुपादायात्रापि संकेतग्रहवेलायां सप्तम्यन्ततया तस्योपादानं कृतम्, तेन स्पष्टं फलार्थनिरूपिताशक्तिः स्वरूपसम्बन्धेन धातौ तिष्ठते। नागेशोऽपि विशिष्टशक्ति-वादमङ्गीकृत्य फलस्य धात्वर्थत्वं स्वीकरोति। फलमात्रं धात्वर्थ इति मीमांसकानां मतं विदुषामतिरोहितमेव। अत एव तन्मते आख्यातवाच्या भावना इत्येषः सिद्धान्तः समर्थितो भवति। न्यायमतेऽपि "फलमात्रं धात्वर्थः आख्यातार्थः कृतिः" इत्याकारकः सिद्धान्तः उद्घुष्टः एव। अत एव दर्शनान्तरे "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" इत्यत्र "कर्तरि कृत्" इत्यतः अनुवर्तमानस्य कृत्पदस्य, "प्रथमानिर्दिष्टं समास

---

1. फलव्यापारयोः धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
   फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्॥ वैयाकरणभूषणसारः कारिका 1
2. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (पा.सू. 3.4.69)
3. पा.सू. 3.4.67
4. पा.सू. 3.4.70
5. पा.सू. 3.3.18

उपसर्जनम्"[1] इत्यतः अनुवर्तितस्य "एकविभक्ति चापूर्वनिपाते"[2] इत्यत्र समासपदस्य किमपि भिन्नं भिन्नमेव व्याख्यानमुपस्थाप्यते। एकत्र समासपदं समासविधायकशास्त्रपरम्, अपरत्र समासनिर्वाहार्थमङ्गीकृतविग्रहपरम्। तदेव समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात्, विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यात् न तु तस्य पूर्वनिपातः इत्यादिवत् कर्तृपदस्य कर्तृत्वपरकं व्याख्यानं विधाय तस्य भावरूपतैव साधिता। परन्तु फलं धात्वर्थः इत्यंशः निर्विवाद एव। अत एव प्राभाकराः फलमेव धात्वर्थः इति सिद्धान्तं स्वीकुर्वन्ति। यद्यपि तेषां मते पचिगमित्यज्यादिधातूनां क्रमेण विक्लित्तिः, संयोगः, विभागः इत्यादयः फलत्वेन प्रसिद्ध्यन्ति। तत्र भावना आर्थीभावना आख्यातरूपेण अभिमता भवति, सा पुरुषप्रवृत्तिरूपैव। अत एव भावनाव्यपगमे पचति इत्यादिप्रयोगः न जायते। भावनायां धातूपात्तफलस्य अनुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयं विधाय निरूपकताभेदेन अर्थभेदश्च साधितः। ग्रामो गमनवान् इत्यस्यापत्तिरपि कृदर्थव्यापारमुपादाय वारिता। यजति, ददाति, जुहोति इत्यत्र पर्यायतापत्तिरपि स्वत्वध्वंसरूपफलैक्येन प्राप्तायाः धात्वर्थभेदेन वारणं कृतम्। स्पष्टञ्चैतत् वैयाकरणभूषणसारस्य प्रभाव्याख्यानेषु।

तथा च स्वस्वत्वध्वंसरूपफलोपलक्षितदेवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागो यजतिपदस्य, संकल्पितस्वीकरणपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिस्वस्वत्वध्वंसफलकद्रव्यत्यागो ददाति पदस्य, देवतोद्देश्यकप्रक्षेपफलको द्रव्यत्यागो जुहोतिपदस्य च वाच्य इति फलितः। न्यायमतेऽपि फलस्य धात्वर्थता अक्षुण्णैव। अत एव तन्मते कर्तुः प्रथमान्तपदेन लाभो जायते। तदेवोक्तम् "भूषणे कर्तुः" लक्षणया आक्षेपात् प्रथमान्तपदाद्वा[3] स्यादिति। वैयाकरणानामपि भूसत्तायाम् इत्यादिना फलनिर्देशः सुस्पष्ट एव। तेन फलस्य स्वरूपमवश्यमेवाभ्युपेयम्। यद्यपि फलनिष्पत्तौ इत्यादिना निष्पत्तिरूपार्थः सुस्पष्टतया प्रतिभाति तथा धात्वर्थस्य निर्देशात्। तथापि निष्पत्तिरूपफलार्थाऽङ्गीकारे सर्वेषां धातूनां पर्यायतापत्तिः स्यादेव। यतः फलानां भिन्नतयैव तन्निरूपकभेदेन व्यापारभेदोऽपि अभ्युपेयते, परन्तु तादृशस्य फलस्य सर्वत्र ऐक्येन प्रतिभानात् तादृशः दोषः समवस्थितः एव। लोकेऽपि प्राधान्योपलब्धौ फलमवतिष्ठते। अत एव इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वमित्यादिलक्षणमपि अनुश्रीयते। भगवतः पाणिनेः सूत्रेष्वपि लक्षणमिदं क्वचिदभिप्रेतं भवति। यथा "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले"[4] इत्यत्र फलपदं एतादृशमेव। न हि स्वर्गप्राप्त्यनन्तरं काचिदन्या इच्छा उदेति, यस्याः विषयत्वं स्वर्गप्राप्तौः स्यात्। अत एव यजेत इत्यादौ आत्मनेपदमपि संगच्छते। यदि तु अनुष्ठानप्रयोज्यदक्षिणामुद्दिश्य

---

1. पा.सू. 1.2.43
2. पा.सू. 1.2.44
3. वैयाकरणभूषणसारः, प्रभादर्पण पृ.सं 23, चौखम्बा सं.सं. वाराणसी
4. पा.सू. 1.3.72

यागो विधीयते, तदा दक्षिणारूपफलस्य अधिगतत्वेऽपि स्वर्गरूपप्राधान्यफलस्य परोद्देश्यकत्वेन परस्मैपदं विधीयते। अत एव भाष्ये समर्थितमिति, तथा च भाष्यम् "भाष्ये साधीयो यत्र क्रियाफलं कर्तारमभिप्रैति। नचान्तरेण यजिं यजिफलं वापिं वा वापिफलं लभन्ते। याजिकाः पुनरन्तरेणापि यजिं गाः लभन्ते, मृतकाश्च पादिकम्" इति। वाक्यपदीयेऽपि इत्येषा कारिकोपलभ्यते–

"यस्यार्थस्य प्रसिद्ध्यर्थमारभन्ते पचादयः।
तत्प्रधानं फलं तेषां न लाभादिप्रयोजनम्॥"[1]

परन्तु एतादृशफलस्वीकारे सकर्मकाकर्मकव्यवस्थायाः उपपादनं न स्यात्। यतः "धात्वर्थफलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वमकर्मकत्वम्", "धात्वर्थफलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्"[2] इत्यादिरूपायाः एव सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्थायाः सत्त्वात्। अग्निहोत्रं जुहोति इत्यादौ हुधात्वर्थस्य लौकिकफलस्य स्वर्गप्राप्तिरूपस्य अग्निहोत्रे अविद्यमानात् तत्र कर्मत्वं न सिद्ध्येत्। अतः अवश्यमेव फलस्य किमपि निर्दिष्टं स्वरूपमुपपादनीयम्। तथा च दर्पणकाराः हरिवल्लभशास्त्रिवर्याः फलस्य लक्षणमेवमुपपादयन्ति–"तत्त्वञ्च तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति तद्धातुजन्योपस्थितिविषयत्वम्, तद्धात्वर्थत्वं वा। जन्यत्वञ्च जन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वम्। तेन सत्तादौ नातिप्रसङ्गः। गम्याद्यर्थव्यापारजन्यविभागादावतिप्रसङ्गवारणाय विशेष्यम्। तदर्थव्यापारे अतिप्रसक्तिनिरासाय च सत्यन्तम्। तच्च विक्लित्यादीनामक्षतम्"[3] इति।

तस्यायं भावः द्व्यर्थौ हि धात्वर्थौ एको व्यापारः, अपरश्च फलरूपः। सर्वत्र आख्यातेषु भावनायाः एव प्राधान्यं भवति। तत्र धात्वर्थव्यापारे भवति प्राधान्यम्, तत्रैव अनुकूलत्वसम्बन्धेन फलस्यान्वयोऽपि विधीयते। अतः तद्धात्वर्थभूतव्यापारजन्यत्वे सति तद्धात्वर्थत्वम्, यद्वा धातुजन्योपस्थितिविषयत्वम्। यद्यपि अस्मिन् लक्षणे जन्यत्वप्रवेशात् भवति अव्याप्तिः सत्तादौ तथापि तस्य वारणं जन्यत्वमित्यस्य जन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमिति निर्वचनेन कृतम्। साक्षादजन्यत्वेऽपि आहार्यबुद्ध्या तत्र जन्यत्वारोपेण वस्तुतोऽभावेऽपि प्रतीतिविषयत्वे सुकरमेव। अतो नास्तिः दोषः स्वयमेव इति भूषणकारः समर्थितवान् मतमिदम्। "अस्त्यादौ अपि धर्म्यंशे भाष्येऽस्त्येव भावना"[4] अन्यत्राशेषभावात् सा तथा न प्रकाशते इति अत्र कारिकायां धर्मः फलम्,

---

1. वाक्यपदीयम्, तृतीयकाण्डम् श्लो.सं. 18
2. सकर्मक-अकर्मकलक्षणम्, वैयाकरणभूषणसारः, प्रभादर्पण पृ.सं 68, चौखम्बा सं.सं. वाराणसी
3. वैयाकरणभूषणसारः, प्रभादर्पण पृ.सं 14-15, चौखम्बा सं.सं. वाराणसी
4. वैयाकरणभूषणसारः, प्रभादर्पण पृ.सं 109, चौखम्बा सं.सं. वाराणसी

धर्मी च कर्ता उच्यते। अकर्मकस्थले फलाश्रयस्यैव कर्तृत्वात् तेन धर्मिभागे प्रकारतया उपस्थिते फले भाव्यत्वेन विवक्षिते तादृशी भाव्यता उपपद्यते एव। अत एव सः गतो न वा इति प्रश्ने महता यत्नेन अस्ति इत्यादिव्यवहारोऽपि उपपद्यते। अत्र दर्पणकारः एवं विशिनष्टि "यत् यद्धर्मावच्छिन्ने जिज्ञासितयद्धर्मावच्छिन्नस्य सम्बन्धो यत् प्रश्नवाक्यात् प्रतीयते तद्धर्मावच्छिन्ने जिज्ञासिततद्धर्मावच्छिन्नसम्बन्ध-बोधकवाक्यस्योत्तरता" इति एतत्स्वाभाविकं तथैव कारिकापि उपलभ्यते–

जिज्ञासितपदार्थस्य संसर्गो येन गम्यते।
तदुत्तरमिति प्रोक्तमन्यदाभाषशब्दितम्॥[1]

अतः अखण्डसत्तायाः अपि प्रसङ्गसन्निधानात् उपदर्शितार्थेषु अवस्थानाच्च अनुकूलत्वं प्रतीयते। अत एव आत्मा अस्ति दिगस्ति इत्यादौ किञ्चिदर्थान्तरेण स्वरूपधारणानुकूलव्यापारवत्त्वेन वा तादृशार्थस्य विधानात् उक्तप्रयोगेषु न किमपि प्रतिबन्धकम्। तेन सत्तायाः वस्तुतः अखण्डत्वमेव, अनुत्पाद्यत्वमेव तथापि तत्क्रियासन्निधानात् तत्र जन्यतायाः प्रतीतिर्भवत्येव। अत एव सत्तायाः षड्भावविकाराः उपपद्यन्ते। निरुक्तकारोऽपि समर्थयति तदेवाह–"अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्त्वावधारणात्" इति। अस्य व्याख्यानमपि एवं कृतवन्तः "अस्तीति चोत्पन्नस्य शब्दस्य अव-धारणामाचष्टे" इत्यादि। पुनश्च पदकृत्यं करोति अत्र लक्षणे हि तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति इत्यंशः विशेषणदलम्, अवशिष्टांशः विशेष्यदलम्। यदि तद्धातुजन्यो-पस्थितिविषयत्वम् इत्येतावदेव लक्षणं स्यात्तदा गम्याद्यर्थव्यापारजन्यविभागादौ अपि अतिव्याप्तिः स्यात्। गमिव्यापारादेः विभागस्य जन्यता स्पष्टैव। अतः धात्वर्थत्वन्देयम्, यद्वा धातुजन्योपस्थितिविषयत्वमिति देयम्, तादृशस्थले विभागस्य अजन्यत्वात् अतिप्रसङ्गो न भवति। एवमेव विशेष्यमात्रसत्त्वे व्यापारादिषु भवत्यतिव्याप्तिः तद्वारणाय विशेष्यदलमङ्गीकरणीयमेव। विक्लित्यादीनां तु धात्वर्थतया धात्वर्थव्यापारजन्यतया च परिभाषितफलत्वमक्षतमेव। परन्तु अस्य लक्षणस्य प्रत्याख्यानम् आचार्याः श्रीपेरीसूर्यनारायणशास्त्रिमहाभागाः कुर्वन्ति। ते च वदन्ति न हि लक्षणमिदं दर्पणकारोक्तं समीचीनम्, यतो हि अत्र लक्षणे जन्यत्वञ्च जन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमित्यंशः सत्तादौ अव्याप्तिवारणाय अवश्यमेव अभ्युपेयः। ते च वदन्ति यत् क्रियाजनकत्वं कारकत्वमिति भाष्याभीष्टकारकलक्षणे कर्मणः कारकत्वसिद्धये फलस्य जनकत्वमभीष्टम्, न हि क्रियाजनकत्वमन्तरा कस्यापि कारकत्वं सम्भवि अस्मिन् मते। तथा च फलस्य बुद्धौ प्रागवस्थानात् विषयस्यापि तादात्म्येन कारणत्वात् फलनिष्ठजनकतानिरूपकजन्यत्वप्रकारिका प्रतीतिः व्यापारे भवत्येव। ततः गम्यादौ व्यापारेऽपि जन्यत्वप्रकारकप्रतीतिसत्त्वात् अतिव्याप्तिः स्पष्टैव। तैः अस्मिन् वादे

1. वैयाकरणभूषणसारः, प्रभादर्पण पृ.सं 101-102, चौखम्बा सं.सं. वाराणसी

मञ्जूषाग्रन्थ एव प्रमाणत्वेन उपन्यस्तः, तथा च मञ्जूषाग्रन्थः–"घटं करोति घटं स्मरति इत्यादौ बौद्धघटादेः पूर्वकालत्वात् स्मृत्यादिनिष्पादकत्वमित्यूह्यम्"[1] इति। अत एव दर्पणोक्तन्न समीचीनम्। पुनश्च तैः दर्पणोक्तस्य विशेष्यदलस्य फलस्य प्रतिपादनप्रकारोऽपि खण्डितः। यतः दर्पणे गम्याद्यर्थरूपव्यापारजन्यविभागादौ अतिप्रसक्तिवारणाय विशेष्यदलमुपन्यस्तम्। परन्तु न सहते एतत्सर्वं शास्त्रिवर्यः। अत्र दर्पणकृन्मतं पदधात्वर्थनिरूपणावसरे सुबर्थे सविस्तरमुपलभ्यते। तत्र हि त्यजिपतधात्वोः पर्यायतापत्तिमाशङ्क्य विभागजन्यः संयोगः न पतधातोरर्थः इत्याद्युक्तम्।

अत्र दर्पणकृन्मतस्य वृक्षात् विभजते इत्यादौ विभागस्य बोधापत्तिमाशङ्क्य वृक्षात् पर्णं इत्यत्र सर्वजनीनानुभवेन समाधानं कृतं शास्त्रिवर्येण। यदि तु वृक्षात् विभजते इत्यादौ पञ्चम्यर्थत्वमपादानत्वं तदा वृक्षात् पर्णमित्यनेन सह वैषम्यापत्तिः। किञ्च पत्धातोः यथाविवरणमुपपादितं तथैव हृगतौ, डीङ्विहायसा गतौ, स्रु गतौ, गम्लृ गतौ च सर्वत्रापि संयोगरूपार्थस्य भानात् समानरूपेण गतेः निर्देशः स्यात्। परन्तु सर्वत्रापि भिन्नं भिन्नं फलं प्रतीयते। क्वचित् विभागजन्यसंयोगरूपम्, क्वचित् अधोदेशसंयोगरूपम्, क्वचिच्च ऊर्ध्वदेशसंयोगरूपं फलं प्रतीयते। एवञ्च तत्तद्धात्वर्थस्य पार्थक्येन बोधे न किमपि प्रतिबन्धकम्। अत एव ग्रामं गच्छति इत्यर्थे पतति, डयते, सर्पति, ऋच्छति, स्रवति इत्यादिप्रयोगाणां प्रसङ्गो न भवति, अतः दर्पणोक्तं न समीचीनम्। नागेशभट्टस्तु कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वम् इत्यादिना लक्षणस्य स्वरूपमवधारयन्ति। अत्र च पदकृत्यं भवति विभागजन्यसंयोगरूपे पतत्यर्थे विभागसंयोगयोः फलत्ववारणाय उभयदलमपेक्षितमेव। अर्थात् संयोगो न प्रकारः विभागस्तु न धात्वर्थः। तेन उभयदलमपि अपेक्षितमेव, अन्यथा वृक्षात्पर्णं पततीत्यत्र वृक्षादीनां विभागरूपफलाश्रयत्वात् कर्मत्वापत्तिः स्यादेव। यदा तु पत्धातुः विभागजन्यसंयोगमात्रार्थकः तदा अकर्मकः, यदा तु विभागजन्यसंयोगानुकूलः इत्यर्थकः तदा सकर्मकः। अत्र मानम् "द्वितीयाश्रिता-तीत"[2] इत्यादिना श्रितादिसुबन्तसमर्थैः सह द्वितीयान्तस्य समासविधानमेव।

इदन्तु अवधेयम् "सुप आत्मनः क्यच्"[3] इति भाष्यानुरोधात् कर्तृप्रत्यय-समभिव्याहारे व्यापारमुख्यविशेष्यकः बोधः, कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे तु फलमुख्य-विशेष्यको बोधः। यतः क्यच्विधायके सूत्रे आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यत्र क्यचमुत्पाद्य इष्यते पुत्रः इति विग्रहे क्यचोऽभावः प्रकल्पितः। तत्र हेतुमाह अर्थभेदादिति, प्रसिद्धश्चायं नियमः इति वृत्तिविग्रहयोः समानार्थकत्वमिति। तदेव प्राप्तोदको ग्रामः

1. परमलघुमञ्जूषा नागेशभावप्रकाशः लेखकः पेरीसूर्यनारायणशास्त्री द्वितीयार्थविचारः पृ. सं.41
2. पा.सू. 2.124
3. पा.सू. 3.1.18

इत्यत्र लौकिकप्रक्रियाविग्रहवाक्यस्यापि वृत्तिजन्यबोध इव विशेष्यविशेषणभावस्य वैपरीत्यं व्याख्याय निरूपणं कृतं शेखरादौ। तर्हि कथमर्थभेदः इति जिज्ञासायाम्– फलव्यापारयोः विशेष्यविशेषणभावयोः प्रकारताविशेष्यतयोः व्यत्यासः एव समाश्रितः। तेन स्पष्टं भवति यत् कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे अन्यादृशः बोधः, कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे तु अन्यादृशः। अत एव कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे फलस्य प्रकारतानाश्रयत्वेऽपि कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तस्याः अक्षुण्णतया एतद्विशेषणमुपात्तम्।

पुनश्च नागेशेन सुबन्तप्रकरणे जन्यतारहितं कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थ-निष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयधात्वर्थत्वं फलत्वमित्याद्युक्तम्। इदमेव सिद्धान्तभूतं लक्षणम्, पूर्वलक्षणन्तु प्राचामनुरोधेन। तेन घटं जानातीत्यत्र जानात्यर्थविषयतायाः अजन्यत्ववादिमते लक्षणमव्याप्तं न भवति। अतः विषयतायाः जन्यत्ववादिमते, अजन्यत्ववादिमते च संघटत एव। विषयतायाः जन्यत्वाजन्यत्वञ्च मतविकल्पेन समारूढम्। अत एव काशिकाकारोऽपि जन्यत्वघटितं लक्षणमेव अङ्गीकृतवान्, अतस्तन्मतेऽपि कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्य-तानिरूपितप्रकारतावत्त्वम्।

अतोऽनन्तरं तत्त्वदर्शिनीकाराः पेरीसूर्यनारायणशास्त्रिणः कर्मकृत्समभिव्याहारे धात्वर्थत्वे सति धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वमित्येवं रूपं लक्षणं कृतवन्तः। तथा च लक्षणम्–"तत्त्वञ्चेति"[1]। शास्त्रिणामयमाशयो यत् प्राचीनानां मते कर्माख्यातस्थलेऽपि व्यापारमुख्यबोधो भवति। अतः तदनुसारं तत्र फलस्य विशेषणत्वं नोपयुज्यते, परन्तु कर्मकृत्स्थले तु समेषामेव तादृशफलप्रकारको बोध अङ्गीकरणीयः। अत एव अनेन तर्केण प्राचां व्यापारमुख्यविशेष्यकः एव बोध इति दर्पणोक्ते प्रत्याख्यानमपि कृतम्। अतः कर्तृप्रत्ययः इत्यंशमपहाय कर्मकृत्प्रत्यय इत्यंशं समायोज्य सुबर्थप्रकरणीयं लक्षणमेते समामनन्ति। एवमेव अन्येऽपि टीकाकाराः वर्तन्ते तेऽपि यथायथं स्वकीयं लक्षणं यथामति उपस्थापयन्ति। तानि यथा–"कर्तृप्रत्ययसमभि-व्याहृतधात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वे सति तद्धात्वर्थजन्यत्वं फलत्वम्" इति कान्तिव्याख्या[2]।

"तत्कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहृततद्धातुजन्यशाब्दोबोधीयतद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यता-निरूपितप्रकारताश्रयत्वम्" इति परीक्षाकारः[3]। "धातुनिष्ठवृत्तिविशिष्टत्वं फलत्वम्, वैशिष्ट्यञ्च स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयत्वस्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयव्यापारविशिष्टत्वम्।

---

1. कर्मकृत्प्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थविशेषणत्वे सति तद्धात्वर्थत्वम्। वैयाकरणभूषणसारः, वेङ्कटेश्वरप्रकाशन, तिरुपति पृ.सं. 14
2. कान्तिव्याख्या–गोपालदेव (मन्नुदेव) कृता संवत् 1856
3. परीक्षाव्याख्या–भैरवमिश्रः संवत् 1881

व्यापारवैशिष्ट्यञ्च स्वजन्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व, स्वप्रयोज्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व, एतदन्यतरसम्बन्धेन" इति प्रभाकारः[1]। "धातुविशिष्टत्वं फलत्वम्, वैशिष्ट्यञ्च स्वनिष्ठशक्तिप्रयोज्योपस्थितिविषयत्व, स्वनिष्ठशक्तिप्रयोज्योपस्थितिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतानिष्ठप्रकारतानिरूपकप्रतीतिविषयत्वोभयसम्बन्धेन" इति सुबोधिनीकारः[2]। "कर्मकृत्प्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थविशेषणत्वे सति तद्धात्वर्थत्वम्" इति तत्त्वदर्शिनीकारः[3]।

एवं प्रकारेण सर्वाण्यपि लक्षणानि यथामति अनुरूपमेव भवन्ति। दर्पणकारस्तु प्राचामाग्रहेण नागेशाभिमतलक्षणमननुगतदोषग्रस्तत्वादुपेक्षितवान्। तेषामाशयस्तु तत्पदग्रस्तत्वाद् अननुगतनानाधर्मावच्छिन्नविषयतायाः प्रयोगत्वेन लक्षणस्यानुगतप्रतीत्यभावेनाप्रयोजकत्वमुपस्थितम्। परन्तु यथा व्यापारस्वरूपप्रतिपादनविधौ समुपस्थितस्य दोषस्यास्य बुद्धिविशेषविषयावच्छेदकत्वेन वारणं तदादिन्यायेन कृतम्। तथैवात्रापि समाधानं समीहते चेत् तर्हि वरम्। पूज्यैः शास्त्रिचरणैः यल्लक्षणं "कर्मकृत्" इति संयोज्योपपादितं तदपि रमणीयमेव। किञ्च प्राचां निग्रहे समर्थम्, तथैव नागेशकृल्लक्षणमदुष्टमेव, यतः कर्माख्यातस्थले "सुप आत्मनः" इति भाष्यात् नागेशाभिप्रेतराद्धान्त एव पुण्यप्रयोजकः। विषयताया अजन्यत्वादिमते सुबर्थप्रकरणोक्तलक्षणमबाधितमेव। तत्त्वदर्शिन्या[4] श्रीशास्त्रिचरणैः समर्थितमेतद्। परीक्षाकारस्तु स्वपरिकल्पिते लक्षणे उपस्थितां विषयतां परित्यज्य शाब्दबोधीयायाः विषयतायाः प्रविष्टिं कृतवान्, यतः विशकलितशक्तिवादे उपस्थितिद्वयस्यापि स्वातन्त्रेण सत्त्वात्, विशिष्टशक्तिवादे तु उपस्थितिविषयतायामपि भवत्येव निर्वाहः। अत्र लक्षणेषु आधिक्येन नागेशाभिमतलक्षणमेवानुहरन्ति लक्षणानि। तथापि प्रभाकारोक्तलक्षणं सर्वलक्षणेषु समन्वयस्थापकम्। अस्य समर्थनमपि गुरुकल्पा आचार्याः श्रीरामकृष्णमहोदयाः स्वकीये भूषणोक्तव्याख्याने कृतवन्त इति। पूज्या अस्माकं गुरुचरणाः श्रीरामयत्नशुक्लवर्या अपि समर्थितवन्त एनम्। अतः "धातुनिष्ठवृत्तिविशिष्टत्वं फलत्वम्, वैशिट्यञ्च स्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयत्वस्वज्ञानजन्योपस्थितिविषयव्यापारविशिष्टत्वैतदुभयसम्बन्धेन। व्यापारवैशिष्ट्यञ्च स्वजन्यत्वप्रकारप्रतीतिविषयत्वस्य प्रयोज्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वैतदन्यतरसम्बन्धेन" मन्येऽहं अस्योपजीव्यं सुबोधिनीकृतलक्षणमेव तद्यथा–"धातुविशिष्टत्वं फलत्वम्, वैशिष्ट्यञ्च स्वनिष्ठशक्तिप्रयोज्योपस्थितिविषयत्व, स्वनिष्ठशक्तिप्रयोज्योपरिस्थितिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतानिष्ठप्रकारतानिरूपकप्रतीतिविषयत्वोभयसम्बन्धेन" इति धातुविशिष्टत्वं फलत्वम् इति। अनेन प्रकारेण सर्वमतसमन्वयो जायत इति शम्।

1. प्रभाव्याख्या–बालकृष्णपञ्चोली
2. सुबोधिनीव्याख्या–आचार्यरामप्रसादत्रिपाठी, संवत् 2009, क्रि.श. 1952
3. तत्त्वदर्शिनीव्याख्या–पेरीसूर्यनारायणशास्त्री
4. तत्त्वदर्शिनीकारः पेरीसूर्यनारायणशास्त्री

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

संस्कृत बालसाहित्य : कुछ चुनौतियाँ

- डॉ. श्रीमती राजकुमारी त्रिखा
विश्रान्त प्राध्यापिका, नई दिल्ली

[प्रस्तुते शोधपत्रे बालसाहित्यस्य वर्तमानकाले का उपयोगिता वर्तते साहित्यमिदं वर्तमानसमाजाय कथं लाभदायकञ्च भवति। बालसाहित्य निर्माणे का समस्याः अयान्ति इत्यादिविषयाः लेखिकया प्रस्तुताः। -सं०]

संस्कृत साहित्य वेद, उपनिषद्, गद्य, पद्य नाटक आदि अनेकविध प्रौढ रचनाओं से समृद्ध हैं। परन्तु बालमन को रुचिकर लगने वाला बालसाहित्य अत्यन्त स्वल्प हैं। विषय की गम्भीरता, प्रौढशैली, तथा क्लिष्ट भाषा के कारण बालक पाठकवर्ग इस साहित्य का रसास्वाद नहीं कर पाता। पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश, ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनकी विषयवस्तु भाषा तथा शैली बालकों की रुचि के अनुरूप है। इन कथाओं में सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि जीवनोपयोगी शिक्षाएँ दी गई हैं। इन कथाओं के पात्र भी बालमन की कल्पनाओं के अनुरूप पशु पक्षी हैं जो सभी प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान को कथा के माध्यम से सम्प्रेषित करते हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में गौणरूप से यत्र तत्र बालोपयोगी प्रसंग मिलते हैं। महाभारत में अनेक पद्यनिबद्ध कथाएँ हैं, जिनका पृथक् संकलन एक विशाल ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित किया जा सकता है।

बालसाहित्य क्षेत्र में रचना की अपार सम्भावनाएँ हैं, तथा अनेक चुनौतियाँ भी हैं। प्रस्तुत पत्र में बालसाहित्य लेखन की विविध विधाओं, तथा वर्तमान में सृजित बालसाहित्य का स्थालीपुलाकन्याय से संकेत देते हुए संस्कृत बालसाहित्यकारों के सामने आने वाली चुनौतियों पर चर्चा करेंगे।

संस्कृतबालसाहित्यकारों को एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्राचीन साहित्य में प्रतिबिम्बित समाज जीवनदर्शन, जीवनशैली, तथा जनजीवन की समस्याएँ, आधुनिक जीवन से मेल नहीं खातीं। फलस्वरूप पाठक प्राचीन

पृष्ठभूमि में तल्लीन नहीं हो पाता। पात्रों के साथ पाठकों का तादात्म्य न हो पाने के कारण पाठक रचना का रसास्वादन नहीं कर पाता। साधारणीकरण के अभाव में पाठक को प्राचीनकालीन पृष्ठभूमि, विचारधारा तथा सामाजिक जीवन अटपटा सा लगता है।

अत: आधुनिक जीवन के सामाजिक परिवेश, परिस्थितियों तथा समस्याओं से सम्बन्धित, युगानुरूप और सरल भाषा व मनोरंजक शैली में संस्कृत बालसहित्य लिखा जाये, तो वह बालकों को अधिक रुचिकर लगेगा। नर्सरी कविता, बाल कथाएँ, बालनाटक आदि आधुनिक जीवन का प्रतिबिम्ब हों, तो वे बालपाठकों को अधिक आकर्षित करेंगे। पाठक उन्हें सहज ही आत्मसात भी कर सकेगा।

आज समाज में बचपन भी अनेक समस्याओं से घिरा है। अधिकतर परिवारों में स्त्री पुरुष दोनों ही अर्थोपार्जन के लिये घर से बाहर जाते हैं। माता की देखरेख तथा स्नेहिल अनुशासन से वंचित, ये बालक नौकरों तथा आयाओं के हाथों में पलते तथा बड़े होते हैं। अत: डाँट डपट का अतिरेक, स्नेह का अभाव, उनके खाने, दूध व फलों की चोरी आदि सामान्य बातें हैं, जो ये मासूम सहन करते हैं। कभी कभी तो यौन उत्पीड़न जैसी घृणास्पद परिस्थितियों का भी शिकार होते हैं। बाल्यावस्था के कटु अनुभवों के कारण बालक के मन में अनेक प्रकार के भय तथा आशंकायें उत्पन्न होती हैं। उनमें चिड़चिड़ापन, घृणा, विद्रोही स्वभाव तथा कभी कभी अवसाद भी जन्म ले लेते हैं। कुछ बालक अपनी मनोव्यथा को माता पिता के समक्ष व्यक्त भी नहीं कर पाते। असुरक्षाभाव से संत्रस्त, वे मन ही मन घुटते रहते हैं। युवावस्था आने पर ऐसे ही बालक विकृत मानसिकता के कारण विविध प्रकार के अपराधों में संलिप्त हो जाते हैं।

बालक हमारा भविष्य हैं। हमारी सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रिय सम्पदा हैं। उनकी उचित देखभाल हो। उनका शरीर तथा मन स्वस्थ हो एवं चरित्र उत्कृष्ट हो तभी एक स्वस्थ समाज तथा आदर्श देश बन सकता हैं। इस दृष्टि से ऐसा बालसाहित्य लिखा जाये, जिसमें हमारे सांस्कृतिक मूल्यों का स्वर मुखर हो, जो बालकों को कर्तव्यपालन ईमानदारी, सदाचार, निर्भीकता, परस्पर सहयोग की शिक्षा दे, तथा उन्हें जीवन में कार्यक्षेत्र में दक्ष बनाये। इसके साथ ही आधुनिक जीवन के महत्वपूर्ण उपादान कम्प्यूटर एप्लीकेशन्स, कम्प्यूटर क्रीड़ाएँ, सीडी, वी.सीडी मोबाइल फोन आदि के विविध प्रयोगों, उपयोगों का भी समावेश हो। इन तकनीकी उपादानों के वर्णनों के उल्लेख से पाठक को आधुनिक युग के परिवेश का आभास होगा। इससे पाठक का पात्रों के साथ साधारणीकरण स्वाभाविक रूप से होगा।

संस्कृत बालसाहित्य बालकों की व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्याओं का विश्लेषण तथा उनके समाधान की दिशा में सुझाव देने वाला भी हो। ऐसा साहित्य बालकों को अपनी समस्याओं के समाधान खोजने के लिये दिशाबोध भी देगा। इस साहित्य से बालकों के मन में छिपी ग्रन्थियाँ सुलझेंगी, तथा उनके व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास होगा। इससे बालकवृन्द अपनी प्राचीन संस्कृति को जानने तथा उसका महत्त्व समझ कर अपनाने को प्रेरित होंगे। डा. राजकुमारी त्रिखा की स्वरचित बाल नाटकों की पुस्तक 'कस्य निमित्तम्' के 'श्रेष्ठाः राष्ट्रसम्पदः' नाटक का पात्र मुकुल बचपन से ही कम्प्यूटरगेम्स खेलते खेलते न जाने कब अनुशासनहीन और असहिष्णु स्वभाव वाला बन जाता है। अन्त में वह बालक अपना दोष व उसका कारण समझ लेता है तथा ऐसे कम्प्यूटरगेम्स बनाने का निश्चय करता है, जो दया, सहिष्णुता, धैर्य, परस्पर सहयोग तथा नियमानुपालन के गुणों को विकसित करे। इसी पुस्तक के एक नाटक 'जीवन्भद्राणि पश्यति' का पात्र रामदास मेडिकल की परीक्षा में असफल होने तथा माता पिता की भर्त्सना पा ने पर आत्महत्या करने जाता है, परन्तु कुलगुरु के परामर्श से बी.ए. में मनचाहे विषय लेकर परीक्षा में श्रेष्ठ अंक पाकर आई.ए.एस पद प्राप्त करता है।

संस्कृत प्रचार तथा प्रसार हेतु प्रतिबद्ध, अत्यन्त सक्रिय तथा अग्रणी संस्था संस्कृतभारती विविधतापूर्ण अनेक गतिविधियों के साथ नवसाहित्यरचना के द्वारा संस्कृत की व्यापक लोकप्रियता बढा रही है। इस संस्था द्वारा प्रकाशित 'सम्भाषणसन्देशः' नामक पत्रिका बालकों को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करती हुई, उनके शास्त्रीय तथा सामान्य ज्ञान की वृद्धि करती है। आधुनिक जीवनशैली तथा मनोरंजन के साधनों के अनुरूप बनाई गई संस्कृत पहेलियों व श्लोकोच्चारण की विडियो क्लिप्स भी बालपाठकों को आकर्षित करती हैं।

पहेलियों तथा श्लोकों का हिन्दी अनुवाद भी साथ होने के कारण ये विडियो क्लिप्स कोमलमति बालकों को बोधगम्य होती हैं तथा संस्कृत के प्रति अनुराग उत्पन्न करती हैं।

'संस्कृतभारती' ने छ-सात बालचित्रकथायें (कॉमिक्स) भी प्रकाशित की हैं। प्रायः आधुनिक जनजीवन से सम्बन्धित विषयों पर आधारित ये कॉमिक्स, पाठकों को बहुत आकर्षित करते हैं। 'अहो कियान् कोलाहलः' तथा 'वार्षिककेशकर्तनम्' विशेष रूप से युगानुरूप विषयों पर आधारित होने के कारण उल्लेखनीय हैं। 'विना श्रमेण गणितम्' एक और बालोपयोगी रचना है।

दिल्ली संस्कृत अकादमी ने बालसाहित्य रचना को प्रोत्साहित करते हुए 'संस्कृत चन्द्रिका' नामक बालपत्रिका का प्रकाशन कुछ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ किया

है। इसमें 'डॉ. राजकुमारी त्रिखा द्वारा लिखित, 'दन्तशुद्धिमहत्वम्' नामक बालकथा बालकों को दाँतों की सफाई की उपयोगिता दर्शाते हुए पाठक को अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखने के लिये प्रेरित करती है। इसी पत्रिका में 'अकबरवीरबर कथामाला' के रूप में डॉ. राजकुमारी त्रिखा ने अकबर बीरबल के किस्सों को बालकों के लिये सरल संस्कृत भाषा में प्रस्तुत करते हुए स्वस्थ तथा तर्कपूर्ण मनोरंजन प्रस्तुत किया है।

अनेक विद्वानों ने व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र लेखन द्वारा संस्कृत बालसाहित्य को समृद्ध किया है। दिवंगत तथा राष्ट्रपतिपुरस्कार से सम्मानित डॉ. सत्यदेव चौधरी ने हिन्दी में अनेक बालशिक्षाप्रद कथाएँ लिखीं तथा उन्हीं का संस्कृत अनुवाद अनेक खण्डों में प्रकाशित किया। १. वानरिका तथा मुक्तामालिका च, २. सरला वासन्ती, ३. बुद्धिमान् लक्ष्यवेधकः। ये कथाएँ जातकमाला, पंचतन्त्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर, ईसपफेबल्स, तथा शेखसादी रचित गुलिस्ताँ से ली गई हैं। कुछ कथाएँ लोककथाओं पर आधारित भी हैं। ये कथाएँ मनोरंजन के साथ साथ बालकों को शिक्षा भी देती हैं। इन कथाओं में भाषा सरल, दीर्घसमासरहित, प्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग, पदच्छेद सहित सुबोध शैली तथा चित्रों का समावेश है।

डॉ. सरस्वती बाली ने आठ से पन्द्रह वर्ष तक के बालकों के लिये संस्कृतकथाओं का एक संकलन 'बालसमुल्लासः' शीर्षक से लिखा, जिसमें आधुनिक तथा व्यावहारिक जीवन से संबधित मौलिक कथाओं का संग्रह है। इस कथासंग्रह में एक कथा है, 'नूतनप्रयोगः'। इस का पात्र एक ग्यारह, बारह वर्ष का छात्र है, जो पढाई में कमजोर है। उसके सुधार के लिये उसकी टीचर उसे छुट्टियों में अपने से छोटी क्लास के विद्यार्थियों को पढाने का परामर्श देती है। इस प्रकार इस बालक को पिछली पुस्तकों का ज्ञान भली भाँति हो जाता है, और वह अपनी कक्षा में भी अच्छे अंक पाकर पास होता है। इस प्रकार व्यावहारिक समस्या से सम्बन्धित होने के कारण यह कथासंग्रह पाठकों को आकर्षित करता है।

आजकल केवल संस्कृतकथायें ही नही बालोपयोगी नाटक तथा कवितायेँ भी सरलसंस्कृत में लिखी जा रही है। डॉ. राजकुमारी त्रिखा रचित बालनाट्यसंकलन कस्य निमित्तम् अत्यन्त सरल संस्कृत भाषा में बालमन की उलझनों का विश्लेषण करके, बालकों की समस्याओं को सुलझाने हेतु बालकों तथा अभिभावकों को भी अनेक परामर्श देता है। स्वतन्त्र संस्कृत लेखन के रूप में अनेक बालकविताएं भी आधुनिक बालकों के अन्तर्मन की झाँकी प्रस्तुत करती हैं। डॉ. प्रवेश सक्सेना की बालकविता नूतनयुगस्य कृष्णोऽहम् आजकल के बालकों की रुचि का मनोहर

प्रकटीकरण है। इसमें बालक अपनी पसन्द नापसन्द बताते हुए कहता है, माँ मुझे माखन, दूध, दही, मिठाई अच्छी नहीं लगती, बल्कि पिज्जा, चाकलेट, पास्ता अच्छा लगता है। अब मुझे वेणु बजाना और गोपियों के साथ रास रचाना भी नहीं भाता। मुझे तो मित्रों के साथ डीजे पर डिस्को डांस अच्छा लगता है। यह एक यथार्थपरक व रुचि परिवर्तन का वर्णन करने वाली हास्य कविता है, जिस में आधुनिक जीवन शैली की झलक दिखाई देती है।

पाठकों मे संस्कृतबालसाहित्य के प्रति अनुराग व आकर्षण उत्पन्न करने की दृष्टि से सरल संस्कृत संवादों वाला तथा आधुनिक जनजीवन के अनुरूप वेषभूषा तथा केशसज्जा से मण्डित संस्कृतचलचित्रों का निर्माण भी सामयिक मनोरंजन का साधन हो सकता है। ये चलचित्र सामान्य समयावधि के अथवा कम समयावधि के अर्थात् डॉक्युमेन्टरी भी हो सकते हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध बालसाहित्य का सरल संस्कृत में अनुवाद करना भी बालसाहित्य को समृद्ध बनायेगा। इसी प्रकार संसार की अन्य भाषाओं की उत्कृष्ट रचनाओं का संस्कृत अनुवाद भी संस्कृत बाल साहित्य की वृद्धि करेगा। इससे बालकों को अन्य देशों की संस्कृति का ज्ञान होगा, और उनमें विश्वबन्धुत्व का भाव पुष्ट होगा।

संस्कृत अनुवाद करते समय अनुवादक को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। अनेक नवीन शब्दों का निर्माण भी करना पड़ता है। अनुवादक के लिये मूललेखन के अभिप्राय को ध्यान में रख कर सरल संस्कृत शब्दों का उपयोग करना और पाठकों की रुचि को आद्योपान्त बनाये रखना एक गम्भीर चुनौती है। इस क्षेत्र में कुछ ग्रन्थों का अनूदित बाल साहित्य उपलब्ध है। प्रसिद्ध लेखक शेखसादी की 'गुलिस्ताँ' नामक पुस्तक का अनुवाद संस्कृतभाषा में उपलब्ध है। इसे डॉ. ओम् प्रकाश ठाकुर नामक प्रसिद्ध संस्कृत रचनाकार ने सुमनोवाटिका शीर्षक से अनूदित कर प्रकाशित करवाया है। डॉ. ठाकुर की ही एक कृति 'ईसपकथानिकुंज' भी यूनानी लेखक ईसप की कथाओं का संस्कृतरूपान्तर है। डॉ. ठाकुर की इस रचना को साहित्य अकादमी ने 2012 में पुरस्कार देकर सम्मानित भी किया है। इस कथा संग्रह में एक सौ ग्यारह कथाओं का संस्कृत अनुवाद तथा उनका हिन्दी रूपान्तर भी दिया है, जिससे यह कथासंग्रह बालकों के लिये बोधगम्य हो गया है। कथा के अन्त में निष्कर्ष स्वरूप उससे मिलने वाली शिक्षा को श्लोक में निबद्ध किया गया हैं। डॉ. ओम प्रकाश ठाकुर की एक अन्य उल्लेखनीय रचना है, 'तेनालीकथाकौतुकम्'। इसमें आंध्रप्रदेश के राजा कृष्णदेवराय के मन्त्री तेनालीराम की लोकविश्रुत कथाओं का संस्कृत अनुवाद किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल में संस्कृत बाल साहित्य लेखन एक पृथक् विधा के रूप में साहित्य में उभरा है। परन्तु इस साहित्यलेखन से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण चुनौती है, इस साहित्य को पाठकों तक पहुँचाना और पाठकों की वृद्धि करना। भारत के सभी राज्यों में संस्कृत में सभी प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा है। परन्तु इन सभी लेखकों की पुस्तकों के विषय में सूचना का अभाव है। विद्वान केवल अपने मित्रों, परिचितों तथा सम्बन्धियों के साहित्य लेखन से ही परिचित होते हैं। लिखे गये साहित्य की सूचना देने वाली कोई वेबसाइट नहीं हैं। साहित्य की सूचना और प्रसार के उद्देश्य से संस्कृतविकिपीडिया, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, अथवा संस्कृतभारती जैसी आधिकारिक तथा संस्कृत प्रसार प्रचार हेतु प्रतिबद्ध संस्था, एक नवीन साहित्य की सूचना देने वाला पृष्ठ बना सके तो वह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। इस तरह साहित्य सम्बन्धी सूचना को पाठकों तक पहुँचाना सुगम होगा।

संस्कृत बाल साहित्य लेखन में एक और बड़ी बाधा है। संस्कृत साहित्य के प्रकाशन में प्रकाशकों की कोई रुचि नहीं होती। इसका कारण है कि संस्कृत पुस्तकों की बिक्री बहुत कम होती है। अतः प्रकाशक विभिन्न बहाने बनाकर लेखकों से नकद रुपए लेकर संस्कृत पुस्तकों को छापते हैं। प्रकाशन की यह समस्या साहित्य लेखन को हतोत्साहित करने वाली है। अतः संस्कृत साहित्य का पाठक वर्ग तैयार करना और उसमें वृद्धि करना एक सामयिक चुनौती है। पाठकों को आकर्षित करने के लिए वाट्स एप, मैसेंजर, फेसबुक, ट्विटर आदि के माध्यम से चुटकुले पहेलियाँ कार्टून आदि सरल संस्कृत भाषा में लिखकर पाठकों को भेजे जा सकते हैं। विद्यालयीय पाठ्यक्रम में अद्यतनीय भारतीय परिवेश में उपयोगी सामग्री जैसे आयुर्वेद, योग, ज्योतिष आदि का संस्कृत की पाठ्यपुस्तकों में समावेश भी अपरोक्ष रूप से संस्कृत की महिमा प्रदर्शित करके पाठकों के मन में संस्कृत के प्रति अनुराग उत्पन्न करेगा।

आशा है हमारा प्रबुद्ध तथा सक्षम संस्कृत विद्वद् समुदाय केंद्र सरकार तक इन समस्याओं को पहुंचाएंगे और उपयुक्त स्तर पर इन चुनौतियों से निपटने के लिए अपेक्षित कदम उठाएंगे।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

भट्टनागेशरीत्या तार्किकमतनिरसनपूर्वकः शाब्दबोधसहकारिकारणविमर्शः

-सुश्रीविदुषी बोल्ला
अनुसन्धात्री, के.जे. सोमैयापरिसरः, मुम्बई

[अस्मिन् शोधपत्रे लेखिकया शाब्दबोधसहकारिकारणानाम् आकाङ्क्षा-योग्यता-आसत्ति-तात्पर्याणाम् निरूपणं कृतं वर्तते। एतानि चतुर्विधानि सहकारिकारणानि शाब्दबोधे कथं सहायकानि भवन्ति, किञ्च तेषां स्वरूपम् इत्यादिविषयाः उपवर्णिताः अत्र। -सं०]

शाब्दबोधे वृत्तिविशिष्टज्ञानस्य मुख्यकारणत्वम्। मुख्यकारणञ्च करणरूपम्। एतदतिरिक्तान्यपि कानिचित् कारणानि, यानि शाब्दबोधे सहकुर्वन्ति। तानि सहकारिकारणानि उच्यन्ते। एवञ्च मुख्यकारणजन्यकार्य्यजनकत्वे सति मुख्यकारणभिन्नकारणत्वं सहकारिकारणत्वम्, सहकारिकारणानि चतुर्विधानि आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्तिः, तात्पर्य्यञ्चेति। तत्रादौ सहकारिकारणानां विमर्शे विमृष्टांशाः सन्ति -

1. आकाङ्क्षानिरूपणम्

(1.1) आकाङ्क्षालक्षणम्

(1.2) आकाङ्क्षायाः अर्थनिष्ठत्वम्

(1.3) आकाङ्क्षाव्यवहारक्षेत्रम्

(1.4) परिशीलनम्

2. योग्यतानिरूपणम्

(2.1) योग्यतालक्षणम्

(2.2) न्यायमतखण्डनम्

(2.3) शाब्दबोधकारणत्वनिराकरणम्

3. आसत्तिनिरूपणम्

(3.1) आसत्तिस्वरूपम्

(3.2) आसत्तेः शाब्दबोधकारणत्वखण्डनम्

4. तात्पर्य्यनिरूपणम्

(4.1) तात्पर्य्यलक्षणम्

(4.2) शक्त्या तस्यान्यथासिद्धत्वस्य निरासः

1. आकाङ्क्षानिरूपणम्

(1.1) आकाङ्क्षालक्षणम् – मञ्जूषायां भट्टनागेशेन आकाङ्क्षानिरूपणाऽवसरे लक्षणद्वयमुक्तम् –

1. वाक्यसमयग्राहिकाऽऽकाङ्क्षा[1] – अत्राऽदौ आकाङ्क्षा नाम वाक्यसमयग्राहिकाकाङ्क्षा। अत्र वाक्यस्य यः शक्तिरूपः सङ्केतः तस्य सङ्केतविषयकबोधस्योत्पादिकाऽऽकाङ्क्षा कथ्यते।

2. उत्थापकताविषयतान्यतरसम्बन्धेनोभयसम्बन्धेन वाऽर्थान्तरजिज्ञासा आकाङ्क्षा[2]–उत्थापकता–विषयता इत्येतत्सम्बन्धयोः अन्यतरेण अर्थात् केनचित् एकेन सम्बन्धेन, अथवा एतत्सम्बन्धद्वयेनाऽपरपदार्थस्य जिज्ञासा आकाङ्क्षा उच्यते।

अन्यतरसम्बन्धेनेत्यस्योदाहरणम् – 'पश्य मृगो धावति' इत्यत्र 'पश्य' पदार्थस्य दर्शनक्रियायाः धावनरूपकर्मणः अर्थान्तरस्य जिज्ञासा वर्त्तते, अतः दर्शनार्थे उत्थापकतासम्बन्धेनाऽऽकाङ्क्षा तिष्ठति, धावनेऽर्थे तु विषयतासम्बन्धेनाऽऽकाङ्क्षा तिष्ठति।

उभयसम्बन्धेनेत्यस्योदाहरणम् – 'पचति तण्डुलं देवदत्तः' इत्यत्र पाकक्रिया देवदत्तरूपं कर्त्तारं, तण्डुलरूपं कर्म्म च जिज्ञासते, यतो हि कारकं विना क्रियायाः उपपत्तिर्न भवितुमर्हति। कर्त्तृकर्म्मकारकञ्च क्रियां जिज्ञासते। एवञ्च पाकक्रियायां, देवदत्ततण्डुलरूपकर्त्तृकर्म्मणोश्च परस्परमाकाङ्क्षायाः उत्थापकता तिष्ठति। तथा विषयताऽप्युभयत्राऽस्ति।

(1.2) आकाङ्क्षायाः अर्थनिष्ठत्वम् – सा च आकाङ्क्षा एकपदार्थस्य ज्ञानानन्तरं तस्मिन् पदार्थेऽन्वययोग्यस्य पदार्थस्य यज्ज्ञानं, तज्ज्ञानविषयिणी 'अस्य सम्बन्धी अर्थः कः?' इत्येवंरूपा इच्छा, या पुरुषे तिष्ठति। एवञ्च ज्ञानविषयविषयिणी आकाङ्क्षा। यथा ज्ञानं घटादिपदार्थज्ञानम्, तस्य विषयः आनयनादियोग्यपदार्थस्य ज्ञानम्, तस्य विषयिणी आकाङ्क्षेति। यद्यपि समवायसम्बन्धेनात्मनिष्ठैवाऽऽकाङ्क्षा न्यायमते, वेदान्तिमते तु तादात्म्येनाऽन्तःकरणनिष्ठा, तथापि तस्याः आकाङ्क्षायाः विषयभूतेऽर्थेऽऽरोपात् आकाङ्क्षाऽर्थनिष्ठाऽपि, अतोऽयमर्थोऽर्थान्तरमाकाङ्क्षतीति

---

1. प.ल.म. पृ.स.–334, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2018
2. प.ल.म. पृ.स.–338, हंसाप्रकाशनम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2018

व्यवह्रियते। इदमेव अभिधानाऽपर्य्यवसानमर्थात् अर्थबोधनस्य असमाप्तिरित्युच्यते। अर्थबोधस्याऽनन्तरमेवाऽन्वयिनोऽर्थस्य जिज्ञासोदयादर्थे एवाऽऽरोपः, न तु पदे प्रमाणाभावात्। 'पदं साकाङ्क्षमि'त्यत्र तु साकाङ्क्षमित्यस्य साकाङ्क्षार्थबोधके लक्षणया 'पदं साकाङ्क्षार्थबोधकमि'त्येवाऽर्थः।आकाङ्क्षाऽर्थनिष्ठेत्यत्र भाष्यप्रमाणन्तु – 'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। का पुनश्शब्दयोर्व्यपेक्षा? न ब्रूमश्शब्दयोरिति, किं तर्हि अर्थयोरिति।'

(1.3) आकाङ्क्षाव्यवहारक्षेत्रम् – एकपदार्थे घटादिपदार्थे अपरपदार्थस्य आनयनादिपदार्थस्य व्यतिरेकेण ज्ञानस्य अभावेन अन्वयबोधाजनकत्वस्य शाब्दबोधजनकत्वाभावस्य घटपदार्थे विद्यमानो ज्ञानविशेषः आकाङ्क्षोत्थापकः। आकाङ्क्षाजनकज्ञानस्य विषये घटपदार्थनिष्ठान्वयबोधजनकत्वाभावरूपेऽपि आकाङ्क्षा-व्यवहारः। अत्रेदं बोध्यम् – तादृशान्वयबोधाजनकत्वेऽपि आकाङ्क्षा इति व्यवहारः इति। ज्ञानविशेषस्य विषयेऽन्वयबोधाजनकत्वेऽपि आकाङ्क्षा इति व्यवहरते। परं शाब्दबोधे आकाङ्क्षा न कारणम्, अपितु आकाङ्क्षाज्ञानं कारणम्, अतः ज्ञानविशेषविषयकस्याऽन्वयबोधाजनकत्वस्य ज्ञानं शाब्दबोधं प्रति कारणं भवतीति। शाब्दबोधे आकाङ्क्षाज्ञानस्य कारणत्वादेव 'घटमानय' इति वाक्यवत् 'घटः कर्म्मत्वम् आनयनं कृतिः' इति शब्दस्य च विभक्त्यर्थस्य समूहात् न शाब्दबोधो भवति, आकाङ्क्षाभावात्। यतो विभक्त्यन्ताख्यातान्तयोरेव साकाङ्क्षार्थबोधकत्वमतो 'घटः कर्म्मत्वम् आनयनं कृतिः' इत्यत्राऽऽकाङ्क्षविरहत्वम्। एतेनेदमायाति पदसमभिव्याहारः आकाङ्क्षेति।[1] समभिव्याहारश्च नियतपौर्वापर्य्यम्। नीलो घटः इत्यत्र स्वन्तनीलपद-समभिव्याहृतस्वन्तघटपदत्वरूपा आकाङ्क्षा तु स्वन्तनीलपदस्य तथा स्वन्तघटपदस्य समभिव्याहाररूपा।

(1.4) परिशीलनम् – अन्वयबोधाजनकत्वज्ञाने शाब्दबोधप्रयोजकतत्तत्सम-भिव्याहारनिष्ठकारणताज्ञानं कारणम्, 'अस्यान्वय्यर्थः कः' इत्याकाङ्क्षाज्ञानेऽन्वय-बोधाजनकत्वं ज्ञानविशेषविषयः कारणम्। तथा च व्यवहारप्रामाण्यात् आकाङ्क्षाज्ञान-कारणेऽप्याकाङ्क्षात्वव्यवहारः। मुख्या आकाङ्क्षा तु समवायेन, उत्थापकतया, विषयतया वा सम्बन्धेन 'अस्यान्वयी कः' इत्येवंरूपा बोध्या। तत्र समवायेन पुरुषनिष्ठाया आकाङ्क्षाया अर्थे आरोपः, तदितरेण चानारोपितैवाऽऽकाङ्क्षा अर्थे इति दिक्।

2. योग्यतानिरूपणम्

(2.1) योग्यतालक्षणम् – मञ्जूषायां योग्यतालक्षणमुक्तम् – परस्परान्वय-

---

1. व्युत्पत्तिवाददर्शः – अभेदान्वयबोधप्रकरणम्।

प्रयोजकधर्म्मवत्त्वमिति।[1] अर्थात् एकपदार्थे अपरपदार्थस्य अन्वयस्य यः हेतुभूतः धर्म्मः स धर्म्म एव योग्यता। शाब्दबोधे योग्यताज्ञानस्य कारणत्वस्वीकारेण 'पयसा सिञ्चति' इति वाक्यं योग्यतावद् भूत्वा अबाधितार्थविषयकं शाब्दबोधजनकं भवति। अस्मिन् वाक्ये एकः पयःपदार्थः, अपरश्च सेचनपदार्थः। तयोः परस्परमन्वयप्रयोजको धर्म्मः 'द्रवद्रव्यत्वं' जले, 'आर्द्रीकरणत्वं' च धर्म्मः सेचने। एवञ्च परस्परान्वयस्य = सेकान्वयस्य जलान्वयस्य, प्रयोजकधर्म्मस्य = द्रवद्रव्यत्वस्य आर्द्रीकरणत्वस्य च, पयः पदार्थे जले सिञ्चतिपदार्थे च सेके विद्यमानत्वात् योग्यतारूपकारणसत्त्वात् 'पयसा सिञ्चति' इति वाक्यं शाब्दबोधजनकम्। योग्यतायाः शाब्दबोधे कारणत्व-स्वीकारादेव 'वह्निना सिञ्चति' इति वाक्यमयोग्यतावत् अस्ति, अतोऽबाधितार्थ-विषयकं शाब्दबोधं न जनयति। वह्निपदार्थस्य सेकपदार्थे अन्वयप्रयोजकधर्म्मस्य द्रवद्रव्यत्वस्याऽभावात्।

(2.2) न्यायमतखण्डनम् - अयोग्यवाक्यादपि बौद्धमर्थमादाय शाब्दबोधो भवति, किन्तु स बोधः अबाधितार्थविषयकोऽर्थात् प्रामाणिको न भवति इति वैयाकरणमतम्। तस्य शाब्दबोधस्य प्रामाणिकत्वस्वीकारे बौद्धार्थविषये जनानां प्रवृत्तिः स्यात्, सा च प्रवृत्तिर्न भवति अतोऽयोग्यवाक्यात् बाधितार्थविषयक एव शाब्दबोधोऽत्र मते स्वीक्रियते। न्यायमते चाऽयोग्यवाक्येषु न पदार्थानां परस्परम् अन्वयबोधः, बाधज्ञानात् केवलं प्रत्येकं पदात् पदार्थबोध एव भवतीति। तन्न, अयोग्ये योग्ये च वाक्ये सर्वत्र बौद्धार्थस्यैव शाब्दबोधविषयत्वेन बाधस्य अभावज्ञानस्य अभावात्। भर्तृहरिरपि सर्वत्र बौद्धार्थज्ञानं समर्थयते - अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च इति।

(2.3) शाब्दबोधकारणत्वनिराकरणम् - बौद्धार्थस्वीकाराद् वन्ध्यादिसुतादि-शब्दानां बाह्यार्थशून्यानामप्यर्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वं, ततः सुबुत्पत्तिश्च भवति। अपि च 'वह्निना सिञ्चति' इति वाक्याद् बौद्धार्थबोधो भवति, अत एव तद्वाक्यप्रयोक्तारं प्रति श्रोता उपहासं कुर्वन् ब्रवीति- 'अद्रवेण वह्निना कथं सेकं ब्रवीषि' इति। यदि शाब्दबोधो न स्यात्, तर्हि एतादृशः उपहासः कथं स्यात्? अतोऽयोग्यवाक्यादपि बौद्धार्थविषयकः शाब्दबोधः स्वीकर्त्तव्य एव। अत्रेदं बोध्यम्-प्रामाणिके ज्ञाने सत्येव जनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते, अप्रमात्मकेऽप्रवृत्तिश्च। यदा श्रोता अयोग्यं वाक्यं शृणोति, तदा बौद्धार्थमाश्रित्य तस्मिन् शाब्दबोधस्तु जायते, किन्तु स जानाति यदयं बोधो न बाह्यार्थविषयको वास्तविकः, अपितु अवास्तविकः, अतस्तस्य न तदर्थे प्रवृत्तिः।

---

1. प.ल.म. - योग्यताप्रकरणम्

एवञ्चाऽयोग्यवाक्यादपि शाब्दबोधेऽर्थात् योग्यताज्ञानरूपकारणाभावेऽपि शाब्दबोधरूप-कार्य्योत्पत्तौ सत्यां व्यतिरेकव्यभिचारान्न योग्यताज्ञानस्य कारणत्वं शाब्दबोधेऽस्ति।

3. आसत्तिनिरूपणम्

(3.1) आसत्तिस्वरूपम् - आसत्तेः स्वरूपन्तु - प्रकृतान्वयबोधानुकूल-पदाव्यवधानमासत्तिः। प्रकृतश्च अन्वयबोधः प्रकृतान्वयबोधः प्रकरणविषयशाब्दबोधः तस्य जनकपदस्य व्यवधानाभावोऽऽसत्तिः। व्यवधानञ्चात्र द्विविधम्-कालकृतम्, प्रकृतानुपयोगिपदकृतञ्च। लक्षणे कालकृतव्यवधानाभावस्वीकारेण इदानीमुच्चरितस्य 'देवदत्त' इति पदस्य प्रहरादिव्यवधानाभावस्वीकारेण च 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' इत्यादौ ग्रामपदेन व्यवधानेऽपि देवदत्तगच्छतिपदार्थयोः आसत्तिः अव्याहतैवेति शाब्दबोधोपपत्तिः। एवञ्च पदाव्यवधानत्वं पूर्वपदाविर्भावाधिकरणक्षणाव्यवहितोत्तर-क्षणवृत्तित्वम्। तथाहि प्रकरणविषयकस्याऽन्वयबोधस्य जनकपदस्य कालकृतं प्रकृतान्वयबोधानुपयोगिपदकृतञ्च व्यवधानराहित्यमेवाऽऽसत्तिरिति फलति। आसत्तिलक्षणे 'प्रकृतान्वय-बोधानुकूले'त्यस्य निवेशेन 'स्थाल्यामोदनं पचती'त्यादौ 'स्थाल्यामि'त्यस्य 'पचति' इत्यस्य च मध्ये 'ओदन'पदेन व्यवधाने सत्यपि तस्य ओदनस्य प्रकृतान्वय-बोधानुकूलत्वात् प्रकृतस्य स्थाल्यधिकरणकपाकक्रियारूपस्याऽन्वयबोधस्याऽनुकूलत्वात् स्थाल्याः पाकक्रियायां कर्म्मद्वारा अन्वयोपयोगित्वात् आसत्तिः अक्षतैव तिष्ठति। आसत्तिविषयः आसन्नः इत्युच्यते, आसत्तेः अविषयश्च अनासन्न उच्यते। आसन्नस्यो-दाहरणम् - 'गिरिरग्निमानि'ति। अत्र प्रकृतान्वयबोधः गिरिः अग्निमदभिन्नः, तदनुकूलपदयोः गिरिरग्निमान् इत्यनयोः अव्यवधानसत्त्वात् आसत्तिः। अनासन्नस्योदा-हरणम् - गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन इति। अत्र प्रकृतान्वयबोधः अग्निमदभिन्नगिरि-विषयकदेवदत्तकर्त्तृकभोजनविषयकः, तदनुकूलपदानि 'अग्निमान् गिरिः', 'देवदत्तेन भुक्तम्' इति, तेषां क्रमशः 'भुक्तम्, अग्निमान्' इति पदाभ्यां व्यवधानेन तेषामव्यवधानासत्त्वात् अनासत्तिः।

(3.2) आसत्तेः शाब्दबोधकारणत्वखण्डनम् - इयमासत्तिः मन्दबुद्धेः कृतेऽविलम्बेन शाब्दबोधे कारणम्। अमन्दबुद्धेः जनस्य तु आसत्तिरूपकारणाभावेऽपि पदार्थोपस्थितौ सत्यामाकाङ्क्षादिमाहात्म्यात् अविलम्बेनैव बोधो जायते, अतः तत्कृते न आसत्तिः कारणम्। अस्याः शाब्दबोधाऽभावे 'न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वर-सवर्णानुच्छेयाडाड्यायाजालः' इत्यस्मिन् सूत्रे भाष्यकृताऽपि प्रतिपादितम्, उक्तञ्च - "अनानुपूर्व्येणाऽपि सन्निष्टानां यथेष्टम् अभिसम्बन्धो भवति। तद्यथा 'अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः' इति। तस्य यथेष्टमभिसम्बन्धः 'उदहारि! भगिनि! या त्वं कुम्भं हरसि शिरसा अनड्वाहं साचीनम् अभिधावन्तमद्राक्षीरि'ति" इत्युक्तम्।

4. तात्पर्य्यनिरूपणम्

(4.1) तात्पर्य्यलक्षणम् – सामान्यतो वक्तुरिच्छा तात्पर्य्यमस्ति[1]। मञ्जूषायां तात्पर्य्यलक्षणमुक्तम् – 'एतद् वाक्यं पदं वा एतदर्थबोधायोच्चारणीयमितीश्वरेच्छा तात्पर्य्यम्'[2]। अर्थात् एतद् वाक्यम्, एतत् पदं वा एतस्याऽर्थस्य बोधाय उच्चारणविषयो भवतु इति ईश्वरेच्छारूपं तात्पर्य्यं कथ्यते। अत्र ईश्वरपदं वक्तृमात्रोपलक्षकम्, अत एव नानाशक्तिमति विष्णुसूर्य्यादिवाचके हर्य्यादिशब्दे प्रयुक्ते सति लोके तात्पर्य्यन्तु उच्चारयितुः इच्छारूपम् एव ग्राह्यम्, तत्र ईश्वरेच्छाया अभावात्। तात्पर्य्यस्य शाब्दबोधे कारणता भवति, अत एव सर्वे सर्वार्थवाचकाः इति शाब्दिकसिद्धान्ते घटशब्दात् पटबोधो न भवति, पटार्थबोधे घटस्य तात्पर्य्याभावात्। तात्पर्य्यस्य स्वरूपन्तु – 'एतत्पदम् एतद्वाक्यं वा एतदर्थबोधनाय मया उच्चार्य्यते इति रूपम्'।तस्य तात्पर्य्यस्य च नियामकं लोके प्रकरणलिङ्गादिकम् एव, नानार्थस्थले शक्तिनियामकवद् भवति। प्रकरणस्य तात्पर्य्यग्राहकत्वात् एव 'सैन्धवम् आनय' इति उच्चारिते भोजनप्रकरणात् लवणबोधः, युद्धप्रकरणाच्च अश्वबोधः। वेदे चाऽस्मदादेः उच्चारयितुः अभावात् ईश्वरेच्छारूपतात्पर्य्यात् एव शाब्दबोधः। वेदस्य ईश्वरोच्चरितत्वमतेनेदं बोध्यम्। वेदस्याऽनुच्चरितत्वमतेन चाऽनादीच्छारूपं तात्पर्य्यम्।

(4.2) शक्त्या तस्यान्यथासिद्धत्वस्य निरासः – प्रकरणादिना शब्दार्थशक्ति-निश्चयेऽऽकाङ्क्षादिना शाब्दबोधे सम्भवे तात्पर्य्यस्य शाब्दबोधम्प्रति न कारणत्वमिति न वाच्यम्, प्राथमिके शाब्दबोधे जातेऽपि नानार्थकस्थले 'तात्पर्य्यं क्वेति न जानीमः' इत्यनुभवात्। तात्पर्य्यस्य कारणत्वस्वीकारे एतादृशानुभवः एव प्रमाणम्। अर्थात् शक्त्या निर्वाहो भवितुं न शक्यः कथन्तु शक्तिज्ञानेन शाब्दबोधस्तु श्रोतुः भवति, परं स शाब्दबोधः प्रामाणिको न वेति निर्णयः तात्पर्य्यनिर्णयादेव भवितुमर्हति, न हि शक्तिनिर्णयात्। तदेवं तात्पर्य्यज्ञानं शक्तिज्ञानानन्तरं शाब्दबोधे सन्देहनिवृत्त्यर्थमुपयुज्यते। अत एव अप्रकरणज्ञं जनम्प्रति यदि 'पयः आनय' इति कथ्यते, तदा पयश्शब्दस्य शक्तिद्वयेन द्विविधशाब्दबोधे जाते तस्य मनसि प्रश्नः उपपद्यते – 'किमानेयम्? दुग्धं जलं वे'ति। अयञ्च प्रश्नः शाब्दबोधे तात्पर्य्यज्ञानस्य कारणत्वे एव भवितुमर्हः। यदि कारणं न स्यात् तर्हि तात्पर्य्यविषये शाब्दबोधसमये प्रश्नोऽपि न स्यात्।

5. निष्कर्षः

शाब्दबोधे वृत्तिविशिष्टज्ञानं मुख्यकारणम्, एतदतिरिक्तान्यपि कानिचित् कारणानि, यानि शाब्दबोधे सहकुर्वन्ति, तानि सहकारिकारणानि उच्यन्ते। एवञ्च मुख्यकारण–

---

1. कारिकावली शब्दप्रकरणम्।
2. कारिकावली शब्दप्रकरणम्।

जन्यकार्य्यजनकत्वे सति मुख्यकारणभिन्नकारणत्वं सहकारिकारणत्वम्, सहकारिकारणानि च चतुर्विधानि – आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्तिः, तात्पर्य्यञ्चेति। अत्र 'पदविशिष्टपदत्वमाकाङ्क्षा, वैशिष्ट्यञ्च स्वाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वस्वाव्यवहितोत्तरवृत्तित्वाऽन्यतरसम्बन्धेने'ति। यथा 'नीलो घटः' इत्यत्र पदं नीलपदम्, तद्विशिष्टपदं घटपदमिति, वैशिष्ट्यञ्च स्वं नीलपदं, तदव्यवहितोत्तरवृत्तिः घटपदस्य, तद्वृत्तित्वं घटपदे एवञ्च नीलपदविशिष्टघटपदत्वम् आकाङ्क्षा, एवमेव स्वपदेन घटपदं गृह्यते, तदव्यवधानपूर्ववृत्तिः नीलपदस्य, तद्वृत्तित्वं नीलपदे एवं घटपदविशिष्टनीलपदत्वमाकाङ्क्षेति। तथा च 'पदसमभिव्याहारः आकाङ्क्षा' भवति।

चतुर्षु सहकारिकारणेषु द्वितीयं कारणं योग्यता नाम परस्परान्वयप्रयोजकधर्म्मवत्त्वमिति। यथा पयसा सिञ्चतीति वाक्ये एकः पयः पदार्थः, अपरश्च सेचनपदार्थः। तयोः परस्परमन्वयप्रयोजको धर्म्मः द्रवद्रव्यत्वं जले, आर्द्रीकरणत्वञ्च धर्म्मः सेचने। एवञ्च सेकान्वयस्य जलान्वयस्य प्रयोजकधर्म्मस्य द्रवद्रव्यत्वस्याऽऽर्दीकरणत्वस्य च पयःपदार्थे जले सिञ्चतिपदार्थे च सेचने विद्यमानत्वात् योग्यतारूपकारणसत्त्वात् पयसा सिञ्चतीति वाक्यं योग्यम्। योग्यताऽभावेऽपि शाब्दबोधो भवत्येव, बौद्धार्थस्य स्वीकारात्। यथा वन्ध्यासुतादीनां बाह्यार्थत्वादर्थवत्त्वात्प्रातिपदिकत्वं, शाब्दबोधश्च।

तृतीयं कारणमासत्तिः – प्रकृतान्वयबोधानुकूलपदाव्यवधानमासत्तिः।[1] इदानीमुच्चरितस्य देवदत्त इति पदस्य प्रहराद्यव्यवधानेनोच्चरितेन गच्छतीति पदेन शाब्दबोधो जायते। इयमासत्तिरपि शाब्दबोधे न कारणं, मन्दबुद्धेरपि आसत्तिज्ञानविरहे विलम्बेन शाब्दबोधदर्शनात्।

अन्तिमं कारणस्ति तात्पर्य्यम् – एतद्वाक्यं पदं वा एतदर्थबोधायोच्चारणीयमितीश्वरेच्छा तात्पर्य्यम्। अत्र ईश्वरपदं वक्तृमात्रोपलक्षकम्। यथा सैन्धवमानयेति वाक्यं, सैन्धवमिति पदं भोजनसमये वक्ता लवणार्थबोधायोच्चारितमिति, तत्र सैन्धवस्य लवणार्थे तात्पर्य्यत्वात् लवणबोधः। युद्धसमये त्वश्वबोधको भवति। एवं तात्पर्य्यनिर्णयस्य ज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयद्वारा प्रवृत्तौ, क्वचिदनेकपदार्थस्याऽन्वययोग्यत्वे कस्याध्याहार इत्यत्र चोपयोगः, न तु शाब्दबोधकस्य कारणत्वम्, अस्याऽभावेऽपि सन्देहजन्यशब्दबोधस्य जायमानत्वात्।

चतुर्षु सहकारिकारणेषु वस्तुतः आकाङ्क्षाज्ञानमेव शाब्दबोधे कारणम्, तद्विना शाब्दबोधाभावात्। एतदतिरिच्य योग्यताज्ञानं विनाऽपि बौद्धार्थविषयकशाब्दबोधो जायते। एवमेवाऽऽसत्तिज्ञानं विनाऽपि अमन्दबुद्धेः शीघ्रतया, मन्दबुद्धेर्विलम्बेन शाब्दबोधो भवत्येव। तथा च तात्पर्य्यज्ञानाभावेऽपि सन्देहात्मकशाब्दबोधस्तु जायत एव।

---

1. कारिकावली शब्दप्रकरणम्।

सहायकग्रन्थसूची

1. साहित्यदर्पणः, श्रीविश्वनाथाचार्य्यः, चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनम्, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्, 2013
2. काव्यप्रकाशः, श्रीमम्मटाचार्यः, सम्पादकः – डाङ्ग नरेन्द्रः, ज्ञानमण्डललिमिटेड, वाराणसी, षष्ठसंस्करणम्, 2010
3. प्रौढनिबन्धसौरभम्, आचार्यविश्वनाथमिश्रः, राष्ट्रियसंस्कृतसाहित्यकेन्द्रम्, जयपुरम्, प्रथमसंस्करणम्, 2003
4. मीमांसायां काव्यशास्त्रे च शब्दशक्तिः, विरूपाक्ष वि. जड्डीपाल, अमरग्रन्थपब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्, 2002
5. शब्दशक्तिप्रकाशिकासमीक्षणम्, डा. विष्णुपदमाहापात्रः, मान्यताप्रकाशनम्, मायापुरी, प्रथमसंस्करणम्, 2005
6. वैयाकरणानामन्येषाञ्च मतेन शब्दस्वरूपतच्छक्तिविचारः, डा.कालिकाप्रसाद-शुक्लः, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी, प्रथमसंस्करणम्, 2001
7. परमलघुमञ्जूषा, श्रीनागेशभट्टः, व्याख्याकारः – प्रो. बोधकुमारझाः, हंसाप्रकाशन, जयपुर, प्रथमसंस्करणम्, 2018
8. परमलघुमञ्जूषा, श्रीनागेशभट्टः, व्याख्याकारः – डा. जयशङ्करलालत्रिपाठी, चौखम्बाकृष्णदासअकादमी, वाराणसी, चतुर्थसंस्करणम्, 2011
9. तत्त्वचिन्तामणिः, श्रीगङ्गेशोपाध्यायः, सम्पादकः – श्रीमदुमेशमिश्रः, मिथिला-विद्यापीठः, प्रथमसंस्करणम्, 1957
10. शब्दशक्तिप्रकाशिका, श्रीजगदीशतर्कालङ्कारः, व्याख्याकारः – श्रीयोगगुरुचरण-देवशर्म्मा, कलिकाताविश्वविद्यालयः, कलिकाता, 1914
11. काव्यप्रकाशः, श्रीमम्मटाचार्य्यः, व्याख्याकारः – श्रीहरिशङ्करशर्म्मा, चौखम्भा-संस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, दशमसंस्करणम्, वि.2060

शोधच्छात्रा, व्याकरणविभागः,
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्,
क.जे. सोमैयासंस्कृतविद्यापीठम्,
विद्याविहारः (पू.), मुम्बई-400077 (महाराष्ट्रम्)

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

ध्वनेरलक्ष्यलक्ष्यक्रमव्यवस्था

-प्रो. रामकुमारशर्मा
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, जयपुरम्

[अस्मिन् शोधपत्रे प्रधानभूतस्य ध्वनेः काव्यस्य अलक्ष्यक्रमरुपः यो भेदः तस्य निरूपणं वर्तते। असंलक्ष्यक्रमध्वनेः असंलक्षकत्वं कथं वर्तते अलक्ष्यलक्ष्यक्रमव्वस्थायाः रहस्यम् इत्यादि विषयाः सूपद् निरूपिताः सन्ति। -सं०]

साहित्यशास्त्रे ' ध्वनति, ध्वननम्, ध्वन्यते, ध्वन्यतेऽस्मिन् ' इति व्युत्पत्त्या साधितो ध्वनिशब्दो व्यञ्जके शब्देऽर्थे व्यञ्जनायां व्यङ्ग्यार्थे प्रधानव्यङ्ग्ये काव्यविशेषे च प्रयुक्तः। तत्र ध्वनिसंज्ञः काव्यविशेषो द्विधा अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपर-वाच्यश्च। तत्रान्त्यो द्विधा अलक्ष्यक्रमोऽलक्ष्यक्रमश्च। तत्राद्यो रसादिरपरश्च शब्दार्थतदुभयशक्तिमूलकत्वेन त्रिधा। यत्र ध्वनौ व्यङ्ग्य-व्यञ्जकयोः पौर्वापर्यरूपः क्रमः सन्नपि शतपत्रशतपत्रव्यतिभेदवन्न लक्ष्यस्तत्राऽलक्ष्यक्रमत्वम्, यत्र तु रणनानुरणन्यायेन लक्ष्यस्तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्। अत्र शङ्का भवति यदेषा लक्ष्यालक्ष्यक्रम-व्यवस्था विवक्षितान्यपरवाच्य एव कथं कृता, व्यञ्जकेन स्वरूपेण सहैव प्रतीयमानस्य बोधनाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः क्रमस्य कथं संभवः, अविवक्षितवाच्ये कथं न सा व्यवस्था विहितेति समासेनाऽत्र विचार्यते। तदङ्गत्वेनेमे विषयबिन्दवो विचारणीयाः सन्ति-

ध्वनिः

यत्र वाच्य-चरमरसादिप्रतीयमानयोरन्तराले विद्यमानस्य वस्त्वलंकाररूपस्य[1] प्रतीयमानस्य वाच्यापेक्षया साक्षाद्रसाभिव्यञ्जकत्वेन प्राधान्यं तत्र काव्यविशेषे ध्वनिरिति, यत्र तु वाच्यमुपस्कृत्य तद्वारा रसाभिव्यञ्जकत्वं तत्र काव्यविशेषे गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति

---

1. वाच्यतः प्राधान्यमात्रेण वस्त्वलंकृत्योर्ध्वनिव्यवहारः। (काव्यप्रकाशः-1.भागः, 137 पृ., ज्योत्स्नामोहन, नागप्रकाशक, नई दिल्ली-1997)

व्यपदेशः।[1] यथा निःशेषच्युतेत्यादिपद्ये नायकान्तिकगमनरूपस्य वस्तुनो व्यङ्ग्यस्य साक्षाद् विप्रलम्भोद्दीपकत्वेन वाच्यापेक्षया प्राधान्याद् ध्वनित्वम्, ग्रामतरुणेत्यादौ पद्ये तु सङ्केतभङ्गरूपस्य व्यङ्ग्यस्य वस्तुनः स्वोपस्कृतवाच्यमुखमालिन्यद्वारा विप्रलम्भाभासव्यञ्जकत्वेनाप्राधान्याद् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्। इत्थमिहान्तरालिकव्यङ्ग्यस्य वस्त्वलंकाररूपस्य साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वं वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, वाच्यद्वारा परम्परया रसव्यञ्जकत्वं वाच्यं प्रत्यप्राधान्यमिति फलितं भवति। एवं व्यञ्जनाप्रतिपाद्यस्य व्यङ्ग्यार्थस्यैव काव्ये ध्वन्यादिव्यपदेशमूलत्वेन ध्वन्यादिव्यवहारस्य प्राणभूता ध्वनिपदेनापि वाच्या व्यञ्जना।[2]

अस्या एव कृते व्यक्तिव्यञ्जनप्रभृतीनि पदानि प्रयुज्यन्ते। व्युपसर्गपूर्वाद् **'अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु'**[3] इति पठितादञ्जूधातोर्ल्युं-ल्युडादौ प्रत्यये व्यञ्जनादयः शब्दाः सिद्ध्यन्ति। तेनाऽञ्जनपदवाच्यकज्जलवत् स्वोपरक्तस्य नयनादेः प्रकाशनम्, घृतादिना स्नेहनं (म्रक्षणम्), कमनीयतायाः सम्पादनम्, गमनं च योगार्थाः। काव्यस्थायामपि व्यञ्जनायामिमे योगार्थाः समन्विताः। इह हि व्यञ्जकः शब्दादिर्व्यञ्जनया प्रत्येयं वस्त्वादि स्वरूपेण सहैव स्वोपरक्तं विधाय प्रकाशयति, रसप्रकाशनयोग्यतासम्पादनेन स्निग्धीकरोति, ललनालावण्यवत् कमनीयं करोति, चरमं प्रत्येयं प्रति वाच्यादिद्वारा गच्छति च। येषामलंकाराणां वाच्यदशायां काव्यशरीराघटकत्वं ते व्यञ्जनया स्पृष्टमात्राः सन्तः परां छायां बिभ्रतीत्यभिहितं ध्वनिकृता।[4] म्रक्षणं स्नेहनमिति **अक्ताः शर्करा उपदधाति**-इत्यादिश्रुतिवाक्यतो लभ्यते। म्रक्षणमस्फुटतया प्रतिपादनं संघातकरणं चापि।[5] काव्ये व्यञ्जनया रमणीयोऽर्थोऽस्फुटत्वेन (सहृदयैकवेद्यत्वेन) प्रायेण प्रकाश्यते। उत्तरोत्तरास्वादे पूर्वपूर्वपदार्थानां संघातीकरणमपि भवति। एवं काव्यगतायामपि व्यञ्जनायां समे योगार्थाः संभवन्ति।

सा व्यञ्जनाऽलंकारशास्त्रे स्वरूपेण सहैव स्वोपरक्तस्यार्थान्तरस्य प्रकाशनरूपः शब्दार्थादिगतो व्यापारविशेष इति स्पष्टमभ्यधायि।। अत एव **स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः**

---

1. प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
   यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।। (ध्वन्यालोकः-3/34, आचार्यजगन्नाथपाठकः, चौखम्बा-विद्याभवनम्, वाराणसी-2011 ई.)
2. प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरतः सैव विवेचिता। (व्यक्तिविवेकः- 3 विमर्शः)
3. माधवीयधातुवृत्तिः- 504 पृ. (तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी-2000 ई.)
4. शरीरीकरणं येषां न वाच्यत्वे व्यवस्थितम्।
   तेऽलंकाराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः।। (ध्वन्यालोकः-2/28)
5. म्रच्छ म्लेच्छने। म्लेच्छनमपशब्दः। म्रक्षति इति संघाते शपि। (माधवीयधातुवृत्तिः-551 पृ.)

सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः, स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जकः, न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरीभवति-[1] इत्यादि ध्वन्यालोकेऽभिहितम्।

काव्ये व्यक्तिमनङ्गीकुर्वताऽपि महिमभट्टेन व्यञ्जनायाः स्वरूपमेवमेव स्वीकृतम्। रुय्यकानुसारेण व्यञ्जनं द्विधाकारणे दुग्धादौ सूक्ष्मरूपेण स्थितस्य दध्यादेः स्थूलरूपत्वापत्तिरूपं प्रथमम्। इदं प्रतीत्यनपेक्षमपि वस्तुन्येव समवेतं भवति। द्वितीयं तूपायप्रतीतिसापेक्षोपेयप्रतीतिरूपम्, यथा घटप्रदीपादौ। प्रदीपप्रतीतिसाहित्येनैव हि घटप्रतीतिः। इदं रुय्यकस्य काव्यप्रकाशसंकेतेऽभिनवगुप्तसम्मतरससूत्रार्थप्रतिपादने द्रष्टुं शक्यते। व्यक्तिविवेककृता घटप्रदीपन्यायेन स्वसम्मताऽपि व्यञ्जना काव्यान्निराकृता। तस्य कारणं वाच्यस्य प्रतीयमानस्य च साहित्येनाऽप्रकाशनं विद्यते,[2] वाच्यप्रतीयमानयोः क्रमोऽवश्यम्भावी, तयोः कार्यकारणभावेनाऽवस्थानात्।

ध्वनिवादिना तु वाच्यप्रतीयमानयोः साहित्येन प्रकाशनं स्वीकृतम्। स्वरूपेण सहैव स्वोपरक्तप्रतीयमानार्थप्रकाशनरूपाया व्यञ्जनाया मूलं कश्मीरशैवागमः। तत्र हि पूर्वपूर्वाणि शिवादीनि तत्त्वानि स्वोत्तराणि शक्त्यादीनि तत्त्वानि स्वरूपं प्रकाशयन्त्येव प्रकाशयन्तीति तान्यपि व्यञ्जकान्येव।[3] वेदान्तमतेऽपि ब्रह्म सद्रूपेण स्वरूपं प्रकाशयदेव स्वसत्तोपरक्तमेव जगदुद्भासयति।[4] अत एव पण्डितराजेन रसगङ्गाधरस्य प्रथमानने रसनिरूपणे भगवती चिदेव व्यक्तिपदेनाऽभिहिता, भग्न आवरणे चितैव स्वरूपेण सह विभावादीनां प्रकाशनं प्रदीपेण शरावादीनामिव साधितं च।[5] वैयाकरणानां ध्वनयोऽपि स्वरूपरूषितमेव व्यङ्ग्यं स्फोटं प्रतिपादयन्ति। एवं प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिर्व्यक्तिरिति व्यक्तिलक्षणं पर्यवस्यति, न तु नागेशादिभिरङ्गीकृता संस्कारविशेषरूपा। एवं क्रमाभावेन ध्वनिवादिभिरलक्ष्यलक्ष्यक्रमव्यवस्था कथं कृतेति संशीतिः।

---

1. ध्वन्यालोकः- 461 पृ.।
2. वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यङ्ग्यव्यञ्जकताऽनयोः।.....साहित्येनाप्रकाशनात्। (व्यक्तिविवेकः,1 विमर्शः, रेवाप्रसादद्विवेदी,चौखम्बासंस्कृतसंस्थान वाराणसी-2005 ई.)
3. तत्तद्रूपोपग्रहणेऽपि स्वातन्त्र्यचा मुक्तत्वान्न प्राच्यस्वभावाभावः। (षट्त्रिंशत्तत्वसंदोहे 1/1 उपरि श्रीमद्राजानकानन्दविवरणम्)
4. तथा सतश्चात्मनोऽभावोऽविद्यमानता न विद्यते, सर्वत्राव्यभिचारात्। (श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्यम्, 2/17 श्लोकोपरि, निर्णयसार-मुम्बई, 1984 ई.)
5. व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।.... यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचौतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्। (रसगङ्गाधरः-26 पृ. भट्टमथुरानाथशास्त्री, मोतीलालबनारसीदास वाराणसी, 1988)

अलक्ष्यलक्ष्यक्रमव्यवस्थाया रहस्यम्

घटप्रदीपस्थले द्विधा प्रतीतिर्भवति। घटनिरपेक्षा प्रदीपमात्रस्य प्रतीतिः प्रथमा, प्रदीपसहिता घटप्रतीतिर्द्वितीया। तत्र प्रदीपप्रतीतौ घटप्रतीतिर्नापेक्षिता, घटं विनाऽपि तस्या भावात्, किन्तु घटप्रतीतौ प्रदीपप्रतीतिरवश्यमपेक्षिता, प्रदीपप्रतीतिं विना घटप्रतीतेरसंभवात्, प्रदीपप्रभोपरक्तस्यैव घटस्य प्रत्ययात्। इह प्रदीपो व्यञ्जको घटस्तु व्यङ्ग्यः। एवं काव्येऽपि वाच्य-प्रतीयमानस्थले द्विधा प्रतीतिर्भवति प्रतीयमान-निरपेक्षा वाच्यमात्रस्य प्रतीतिः प्रथमा, वाच्यसहिता प्रतीयमानप्रतीतिर्द्वितीया। तत्र वाच्यप्रतीतौ प्रतीयमानप्रतीतिर्नापेक्षिता, प्रतीयमानं विनाऽपि वाच्यप्रतीतेर्भावात्, किन्तु प्रतीयमानप्रतीतौ वाच्यप्रतीतिरवश्यमपेक्षिता, वाच्यप्रतीतिं विना प्रतीयमानप्रतीते-रसंभवात्, वाच्योपरक्तस्यैव प्रतीयमानस्य प्रत्ययात्। इह वाच्यो व्यञ्जकः, प्रतीयमानं व्यङ्ग्यम्। भावोऽयं वर्तते यत् काव्ये सर्वत्र प्रतीतिर्द्विधा भवति, केवलस्य व्यञ्जकस्य, व्यञ्जकसहितस्य व्यङ्ग्यस्य च। तत्र यत्र केवलस्य व्यञ्जकस्य तदुपरक्तस्य तत्सहितस्य व्यङ्ग्यस्य च प्रतीत्योः क्रमो लक्ष्यो न भवति तत्र रसादिस्थलेऽलक्ष्य-क्रमत्वस्य व्यवस्था, यत्र तु स लक्ष्यो भवति तत्र लक्ष्यक्रमत्वस्य च। एवमलक्ष्यलक्ष्य-क्रमव्यवस्था संपद्यते। उक्तं रुय्यकेण काव्यप्रकाशसंकेते-

तथा हि द्विविधमिह संक्षेपेण व्यञ्जनम्-एकं तावत् कारणसूक्ष्मरूप-तयाऽवस्थितस्य स्थूलरूपत्वम्, यथा क्षीरावस्थाया शुक्लावस्थस्योत्तरं दधिरूपत्वात्। एतच्च प्रतीत्यनपेक्षमपि केवलवस्तुसमवेतमेव व्यञ्जनम्। द्वितीयं तूपायप्रतीतिसापेक्षोपेयप्रतीतिरूपम्, यथा घटप्रदीपादौ प्रदीपप्रतीतिसाहित्येनैव घटप्रतीतेः, प्रदीपस्य व्यञ्जकत्वात्। तदुक्तम्-

स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात्।

तत्रेह रसस्य विभावादीनां च द्वितीयो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावप्रकार आश्रीयते, पानकरसन्यायेन विभावादिप्रतीतिसाहित्येन रसप्रतीतेः। अत एव ध्वनिकृता रसाद्याश्रयेणाऽसंलक्ष्यक्रमत्वमुक्तम्, प्रदीपघटदृष्टान्तश्च व्यञ्जने प्रदर्शितः। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यादौ कथं व्यञ्जकत्वमिति चेत्, तत्रापि व्यञ्जकप्रतीतिपुरःसरत्वेन व्यङ्ग्यप्रतीतेः क्रमवत्त्वेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले तावद् व्यङग्यप्रतीतेरस्ति सहभाव इति घटप्रदीपन्यायेन स्थित एव व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावः। तत्र हि पूर्वं केवलं व्यञ्जकप्रतीतिः, पश्चात्तु व्यञ्जक-सहितव्यङ्ग्यप्रतीतिरितीयान् एव पूर्वकल्पाद् विशेषः। वास्तवस्तु क्रम उभयत्राऽप्यस्ति, केवलं पूर्वत्रोत्पलपत्रव्यतिभेदन्यायेन न संलक्ष्यत एव। संलक्षणेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले तावद् व्यञ्जकप्रतीतिरस्तीत्येतावता

प्रदीपघटसिद्धान्तोऽत्रापि संगच्छते। तदुक्तं ध्वनिकृतैव नहि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यप्रतीतिर्दूरीभवतीति, एवमेव चैतत्। व्यङ्ग्यप्रतीतौ हि व्यञ्जकप्रतीति-रुपयुक्ता, न व्यञ्जकप्रतीतौ व्यङ्ग्यप्रतीतिः, घटप्रदीपवदेव प्रदीपप्रतीतेः केवलाया अपि भावात्।[1]

तत्र रसादयोऽलक्ष्यक्रमा एवेति मम्मटादीनां मतम्। क्रमस्य लक्ष्यत्वे विगलितवेद्यान्तरताया अभावे रसत्वमेव भज्येत। ध्वनिकारं प्रमाणयतः पण्डितराजस्य मते प्रकरणादीनामस्फुटत्वे विभावादीनां व्यञ्जकानां प्रतीतौ विलम्बे चमत्कृतिमान्थर्येण तल्पगताऽपीत्यादौ श्लोके रसस्याऽलक्ष्यक्रमत्वमपि।[2] तन्मतेऽपि प्रकरणादिभिः प्रतीते विभावादौ तत्साहित्येनैव रत्यादिप्रतीतौ न कश्चन विरोधः।

अविवक्षितवाच्ये लक्ष्यक्रमत्वप्रतिपादनाभावस्य मूलम्

अविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलो ध्वनिः। अतो मुख्यार्थबाधादिप्रतिसंधानाद् वाच्येन लक्ष्यप्रतीतिव्यवधानेनैव प्रतीयमानस्य प्रत्यायनात् क्रमस्य लक्ष्यत्वं न व्यभिचरतीति लक्ष्यक्रमत्वरूपस्य विशेषणस्य प्रयोगो न विहितः। संभवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवदिति हि नियमः। इह पूर्वं वाच्यबोधः, ततो मुख्यार्थबाधादिप्रतिसंधानम्, ततो लक्षणया लक्ष्यबोधः, ततश्च व्यङ्ग्यबोधः। व्यङ्ग्यबोधे तु वाच्यस्य व्यञ्जकत्वमेव, लक्ष्यद्वारा स्वोपरक्तव्यङग्यप्रतिपादकत्वात्। यद्यपीह लक्ष्यस्य व्यञ्जकत्वम्, तथापि वाच्यस्यापि तन्न त्रुट्यति। किञ्च लक्ष्यमपि वाच्यविशेष एव। अत एव काव्यप्रकाशे पञ्चमोल्लासे लक्षणाया अभिधापुच्छभूतता प्रतिपादिता, ध्वनिकृता ध्वनिलक्षणे प्रयुक्तस्यार्थपदस्य अर्थो वाच्यविशेष इति विवरणं कुर्वता लक्ष्यस्य वाच्य एवान्तर्भावमिव मन्यमानेन वाच्यस्यैव व्यञ्जकता कण्ठत उक्ता। अविवक्षितवाच्यस्योदाहरणं त्वामस्मि वच्मीत्यादि प्रसिद्धमेव।

एवमिह ध्वनेरलक्ष्यलक्ष्यक्रमव्यवस्था समासेन विचारिता।

सन्दर्भग्रन्थाः-

1. काव्यप्रकाशः-1. भागः, ज्योत्स्नामोहनः, नागप्रकाशकः, नईदिल्ली-1997 ई.
2. काव्यप्रकाशः-1. भागः, ज्योत्स्नामोहनः, नागप्रकाशकः, नईदिल्ली-1997 ई.
3. ध्वन्यालोकः-आचार्यजगन्नाथपाठकः, चौखम्बा-विद्याभवनम्, वाराणसी-2011 ई.

---

1. काव्यप्रकाशः-2.भागः, 578 पृ. (ज्योत्स्नामोहन, नागप्रकाशक, नई दिल्ली-1997)
2. रसगङ्गाधरः-130-131 पृ.।

4. व्यक्तिविवेकः, रेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्बासंस्कृतसंस्थानम् वाराणसी-2005 ई.

5. रसगङ्गाधरः-भट्टमथुरानाथशास्त्री, मोतीलालबनारसीदासः वाराणसी, 1988

6. श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्यम्, निर्णयसार-मुम्बई, 1984 ई.

7. माधवीयधातुवृत्तिः- 504 पृ. (ताराबुक- एजेन्सी, वाराणसी-2000 ई.

8. Kashmir Series of Texts and Studies (13.14.15) & Aroma publishing house, Delhi & 1991 ई.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

गुणपदार्थविमर्शः

-डा. मधुकेश्वरभट्टः

सहायकाचार्यः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली

[लेखकेन प्रस्तुते शोधपत्रे व्याकरणशास्त्रमादाय गुणपदार्थः विचारितः। गुणपदार्थः व्याकरणशास्त्रे कस्य बोधको वर्तते, कुत्र कुत्र च तस्य प्रयोगो जातः, एतत् सर्वं सम्यक् निरुपितम्। -सं०]

गुण-आमन्त्रणे इत्यस्मात् धातोः अच्-प्रत्यये[1] गुणशब्दः निष्पन्नः। लोके गुणशब्दः स्वभावार्थे प्रयुज्यते। सत्वरजस्तमांसि गुणपदवाच्यानि इति सांख्याः वेदान्तिनश्च। रूपरसादयः चतुर्विंशतिः गुणा[2] इति तार्किकाः। माधुर्यादायः गुणपदव्यपदेश्या इति आलङ्कारिकाः। क्वचित् गुणितार्थे, क्वचित् अप्रधानार्थे च गुणशब्दः प्रयुक्तः शास्त्रेषु। शब्दसाधुत्वबोधके व्याकरणशास्त्रे असकृत् गुणशब्दः अनुश्रूयते।पाणिन्याचार्यैः सूत्रेषु बहुधा गुणशब्दोपदेशोऽपि अकारि। तस्यार्थविमर्शः अत्र विधास्यते।

अदेङ्गुणः(1-1-2)

अनेन सूत्रेण गुणसंज्ञा विधीयते। अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात्[3] इति सूत्रार्थः। सूत्रेऽस्मिन् गुणशब्देन अ,ए,ओ इति वर्णाः नतु लौकिकः गुणः।अन्यथा उपेन्द्रः इत्यादिलक्ष्यस्थलेषु लौकिकगुणादेशस्य प्रसक्तिः स्यात्। अतः आद्गुणः[4] इत्यादिषु सूत्रेषु शास्त्रीयगुणसंज्ञकाः अकारैकारौकारा वर्णा गृह्यन्ते।

वोतो गुणवचनात् (4-1-44)

सूत्रमिदं ङीष्प्रत्ययं विधत्ते। उदन्तात् गुणवाचिनो वा ङीष् स्यात् इति सूत्रार्थः। यथा मृद्वी, मृदुः। इह सूत्रे शास्त्रीयगुणसंज्ञकानाम् अदेङां ग्रहणं न भवति। सूत्रे उतः इति विशेषणाद्वचनग्रहणाच्च। गुणवति द्रव्ये वर्तमानप्रातिपदिकलाभाय हि

---

1. नन्दिग्रहिपचादिभ्योल्युणिन्यचः(अष्टा-3-1-134)
2. रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभापरत्वापरत्वगुरुत्व-
-द्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिर्गुणाः। तर्कसंग्रहः।
3. वै. सि.कौ. प्रथमभागः,पृष्ठसंख्या - 31
4. वै. सि.कौ. प्रथमभागः,पृष्ठसंख्या - 559

वचनग्रहणम्। अ, ए, ओ, इत्येते न कदापि गुणकथनपूर्वकं द्रव्यवाचकाः भवितुमर्हन्ति। लोके तूपसर्जनं गुण उच्यते। तद्यथा तत्त्वबोधिनीटीकायाम् आह- संज्ञाजातिक्रियाशब्दान् हित्वाऽन्ये गुणवाचिनः[1] इति। तद्यथा महाभाष्यकारः गुणलक्षणम् आह -

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः[2]॥

अयम्भावः - सीदतः -तिष्ठतः लिङ्गसंख्ये यस्मिँस्तत्सत्त्वम्।सत्त्वे=द्रव्ये निविशते=समवैति, यः स गुणः इत्यन्वयः। सत्त्व एव निविशत इत्यनेन सत्ता व्यावर्त्यते, सा हि न केवलं द्रव्ये वर्तते किन्तु द्रव्यगुणकर्मसु।ननु द्रव्येषु द्रव्यत्वम् अपि समवैति अतः सोऽपि गुणः इति चेत्- द्रव्यत्वे अतिव्याप्तिवारणाय 'अपैति' इति विशेषणदलं योजितम्। अपैति=अपगच्छति, सत्वात् अपगच्छति इत्यर्थः। कतिपयद्रव्येभ्योऽपगच्छति गुणः, अतः द्रव्यत्वस्य सर्वद्रव्यवृत्तित्वात् नातिव्याप्तीत्यर्थः। यथा आम्रफले श्यामता पूर्वमुपैति, रक्ततायां तत्र जातायामपैति च नैवं द्रव्यात् द्रव्यत्वमपैति।एवमपि गोत्वं गोषु वर्तते अश्वादेश्च अपैति अतः तत्रातिव्याप्तिः। तद्वारणाय पृथग् जातिषु दृश्यते इति। पृथक्=भिन्नाःजातयः येषां ते पृथग्जातयः। गोत्वं द्रव्यत्वाऽवान्तरनानाजातिषु न दृश्यते। गुणस्तु दृश्यते। गोत्वं तु गोजातीयेष्वेव भवति न तु भिन्नाऽश्वादिषु सत्त्वात्, न तत्रातिव्याप्तिः। यथा कोमलता तृणादिष्वपि दृश्यते नार्य्यादिष्वपि। अतः जातिभिन्नो भवति गुणः। यः द्रव्यमाश्रयते, द्रव्यान्निवर्तते, भिन्नजातीयेषु दृश्यते सः गुण इत्यर्थः। पूर्वोक्तलक्षणेन क्रियायाः गुणत्वं प्राप्नोति। साऽपि क्रिया द्रव्ये निविशते कदाचित् द्रव्यान्निवर्तते। कदाचित् निष्क्रियं द्रव्यं भवति कदाचित् सक्रियम्। भिन्नजातीयानि च द्रव्याणि आश्रयते। अतः क्रियायामतिव्याप्तिवारणाय आह-आधेयश्चाक्रियाजश्च। आधीयते उत्पाद्यते इत्याधेयः= उत्पाद्यः। यथा पाकद्रव्येषु रक्तता गुणः, स ह्यग्निसंयोगेन निष्पाद्यते। अक्रियाजः= क्रिया=व्यापारः, ततो जातः क्रियाजः, न क्रियाजोऽक्रियाजः=नित्यः अनुत्पाद्यः वा। यथा आकाशादेर्महत्वादिः। एतेन परिनिष्ठितगुणलक्षणं नित्यानित्यवृत्तिजातिमत्त्वम् इति लब्धम्। क्रिया तूत्पाद्यैव, सा न नित्या इति तस्याः क्रियायाः द्वैविध्याभावात् गुणत्वाभावः। एवमपि द्रव्यस्य गुणत्वं प्राप्नोति। अवयविद्रव्यम् अवयवद्रव्येषु निविशते, असमवायिकारणसंयोगनिवृतौ च विनाशात् ततोऽपैति, भिन्नजातीयेषु च हस्तपादादिषु दृश्यते। नित्यानित्यभेदेन द्रव्यं द्विविधं भवति। निरवयवस्य परमाण्वादेः नित्यत्वात्, अवयविद्रव्यस्य घटादेः अनित्यत्वात् अत आह- असत्त्वप्रकृतिरिति। अद्रव्यस्वभाव इत्यर्थः। असत्त्वप्रकृतिरित्यत्र द्रव्यपदेन गुणाश्रयः उच्यते।अयमेवार्थः

---

1. वै. सि.कौमुदी, प्रथमभागः,तत्त्वबोधिनीव्याख्या, पृष्ठसंख्या - 559
2. व्या.म.भाष्यम्, अ-4, पा-1, आह्निकम्-2, पृष्ठसंख्या - 62

श्लोकान्तरेण प्रोक्तः अस्मिन् सूत्रभाष्ये-

उपैत्यन्यज्जहात्यन्यद् दृष्टो द्रव्यान्तरेष्वपि।
वाचकः सर्वलिङ्गानां द्रव्यादन्यो गुणः स्मृतः[1]॥

अत्र कैयटनागेशादयः वदन्ति यत् येषां च शब्दानाम् आकडारादेका संज्ञा[2] सूत्रे गुणवचनसंज्ञा उक्ता तेषामेवात्र ग्रहणम्। एवं हि द्वयोर्भाष्ययोरेकवाक्यता भवति। आकडारादेका संज्ञा सूत्रभाष्ये प्रादिपदिकमात्रस्य गुणवचनसंज्ञामुक्त्वा गुणवचनसंज्ञायाः बाधकत्वेन समस्तकृदन्ततद्धितान्तसर्वनामजातिसंख्यासंज्ञाशब्दाः क्रमेण पठिताः **समासकृत्तद्धिताव्ययसर्वनामासर्वलिङ्गा जातिः**[3] इति। अस्मात् पूर्वम् **अर्थवत् प्रातिपदिकम्**[4]। **गुणवचनं च**[5] इति पठितम्। गुणवचनमित्यत्र अर्थवत् इत्यस्यानुवृतिः। जातिसञ्ज्ञागुणवचनसंज्ञां बाधते। अतः समस्तकृदन्तादीनां जातिसञ्ज्ञा भवति। न तु गुणवचनसंज्ञा इति तत्रस्थभाष्यम्। एवं च गुणशब्देन समस्तकृदन्ततद्धितान्तसर्वनाम-जातिसंख्यासञ्ज्ञाशब्दातिरिक्तशब्दो गृह्यते। तथा च सूत्रेस्मिन् जातिभिन्नत्वे सति क्रियाभिन्नत्वे सति द्रव्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वं गुणलक्षणं निष्कृष्टं वेदितव्यम्।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् (2-3-25)

अनेन सूत्रेण पञ्चमीविभक्तिः विकल्पेन विधीयते। गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्[6] इति सूत्रार्थः। यथा- जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः। अस्मिन् सूत्रे गुणपदं धर्मपरम्। **वोतो गुणवचनात्**[7] इति सूत्रोक्तं गुणलक्षणम् आकडारसूत्रभाष्योक्त-गुणलक्षणं वा अत्र न गृह्यते। धर्मपरकगुणग्रहणेनैवात्र जाड्यम् इत्यत्र **गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च**[8] इत्यनेन ष्यञ्प्रत्ययः विधीयते। अत एव न्यासे उक्तम्- **गुणशब्देन चात्र सम्बन्धिमात्रं परार्थरुपापन्नमुच्यते**[9] इति।

---

1. व्या.म.भाष्यम्, अ-4, पा-1, आह्निकम्-2, पृष्ठसंख्या - 63
2. अष्टा. 1-4-1
3. व्या.म.भाष्यम्, अ-4, पा-4,आह्निकम्-1, पृष्ठसंख्या - 203
4. व्या.म.भाष्यम्, अ-1, पा-4,आह्निकम्-1, पृष्ठसंख्या - 203
5. व्या.म.भाष्यम्, अ-1, पा-4,आह्निकम्-1, पृष्ठसंख्या - 203
6. वै. सि.कौ. प्रथमभागः, पृष्ठसंख्या - 669
7. अष्टा. 4-1-44
8. अष्टा. 5-1-124
9. काशिकावृत्तिः, द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः, पृष्ठसंख्या-349. वै.सि.कौ. द्वितीयभागः, पृष्ठसंख्या - 36

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (2-1-30)

सूत्रमिदं तत्पुरुषसमासविधायकम्। तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च समस्यते स तत्पुरुषः[1] इत्यर्थः। यथा शङ्कुलाखण्डः, धान्यार्थः। गुणमुक्तवान् = गुणवचनः इत्यर्थः। यश्च पूर्वं गुणमुक्त्वा पश्चात् द्रव्यम् अभिधत्ते स गुणवचनः। समस्तकृदन्ततद्धितान्तसर्वनामजातिसंख्यासञ्ज्ञाशब्दातिरिक्तशब्दानामेव गुणवचनसञ्ज्ञा उक्ता तथाऽपि प्रकृते व्याख्यानात् शुद्धयौगिक एव गुणवचनशब्दः सूत्रेस्मिन् गृह्यते।

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च (5-1-124)

अनेन सूत्रेण गुणवचनेभ्यः ब्राह्मणादिभ्यश्च षष्ठ्यन्तेभ्यो भावे कर्मणि च अर्थे ष्यञ्प्रत्ययः विधीयते। अत्र सूत्रे कर्मणि इति शब्दः क्रियावचनः। अत्र सूत्रे गुणवचनशब्दः = गुणोपसर्जनद्रव्यवाची। धर्मपरमत्र गुणशब्दः, न तु आकडारसूत्रे वोतो गुणवचनात्सूत्रे वा प्रतिपादितगुणशब्दः। गुणमुक्त्वा यो गुणिनि वर्तते सः गुणवचनः। ते च शुक्लादयः। तेन च रुपरसगन्धादिव्यावृत्तिः। यथा जडस्य कर्म भावो वा जाड्यम्।

अजादी गुणवचनादेव (5-3-58)

तरप्तमपौ इष्ठन्नीयसुनौ चेति चतुर्षु प्रत्ययेषु यौ अजादी तौ गुणवचनादेव भवत इति सूत्रार्थः। यथा - पटीयान् लघीयान् पटिष्ठः लघिष्ठः। अस्मिन् सूत्रे गुणवचनेति पदेन आकडारसूत्रभाष्यरीत्या समस्तकृदन्ततद्धितान्तसर्वनामजातिसङ्ख्या-सञ्ज्ञाशब्दातिरिक्तशब्दो गृह्यते न तु यौगिकं गुणवचनम्।

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः (6-4-153)

अनेन सूत्रेण स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इत्येतेषां यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुणः इष्ठादिषु इति लोपगुणौ विधीयेते। यथा-स्थविष्ठः, दविष्ठः, यविष्ठः, ह्रसिष्ठः, क्षेपिष्ठः, क्षोदिष्ठः। शब्दशास्त्रे गुणपदेन अदेङामपि ग्रहणम्, एवमेव आकडारसूत्रभाष्यानुगुणम् अथवा वोतो गुणवचनात् इति सूत्रस्थभाष्यानुगुणं पारिभाषिकगुणोऽपि उल्लिखितः। अस्मिन् सूत्रे यो गुणः विधीयमानः सो अदेङां बोधकः। तेन अ, ए, ओ इत्येतेषामुपस्थितिः। परञ्च स्थूलादीनां यौ इष्ठन्ईयसुन्-प्रत्ययौ विधीयेते कं निमित्तमादाय प्रवर्तेते इति जिज्ञासायाः विषयः। तदोच्यते - एषु आवयोर्वा अतिशयेन स्थूलः इति स्थविष्ठः, दविष्ठः, यविष्ठ इत्यादौ विधीयमानः इष्ठन्प्रत्ययः स्थूलादीनां गुणवचनत्वात् तेभ्यो अजादी गुणवचनादेव इत्यनेन विधीयते।

---

1. वै. सि.कौ. द्वितीयभागः, पृष्ठसंख्या - 36

क्षिप्रक्षुद्रावपि गुणवचनावेव। ननु युवशब्दस्यागुणवाचित्वेन कथं तत्र अजादी गुणवचनादेव इत्यनेन प्रत्यय इति चेत्- वचनात् अजादी इति बोध्यम्। वस्तुतः आकडारसूत्रभाष्यरीत्या युवशब्दोऽपि गुणवचन एव।अतः उदाहरणेषु यं निमित्तमादाय प्रत्ययौ विधीयेते तदस्ति शास्त्रीयगुण एव।

पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन (2-2-11)

अनेन सूत्रेण षष्ठीसमासस्य निषेधः क्रियते। अत्र सूत्रे गुणेति स्वरूपग्रहणं न भवति। नाप्यदेङाम्। गुणप्रतिषेधे यस्य गुणस्य हि भावादिवत् प्रवृत्तिनिमित्तमात्रस्य ग्रहणम्। नापि लोकप्रसिद्धस्य शुक्लादेरेव ग्रहणम्। कण्टकस्य तैक्ष्ण्यमित्यादेरपीष्टत्वात्। एवमेव अत्र आकडारसूत्रोक्तगुणवचनसञ्ज्ञानामपि तथा तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन इति सूत्रे च प्रपञ्चितानां गुणानां न ग्रहणम्। अपितु वोतो गुणवचनात् इति सूत्रोक्तः सत्त्वे निविशतेऽपैतीत्येतल्लक्षणलक्षितो गुणो गृह्यते। व्याख्यानात् वचनपदानुपादानात् सूत्रे अर्थग्रहणाच्च। व्याप्तिन्यायात् केवलगुणवाची गुणोपसर्जनद्रव्यवाची च गुणशब्देन गृह्यते इति भावः। अत्र ये केवलं गुणे गुणविशिष्टद्रव्ये च वर्तन्ते तेषामेव गुणानामत्रोपादानम्। केवलगुणवाची सन् यो गुणिबोधकः तत्प्रकृतिकभावप्रत्ययान्त-प्रतिपाद्यानां गुणपदेन ग्रहणम्, अर्थपदान्वयाच्च तद्बोधकशब्दमात्रग्रहणम्।

सर्वं गुणकात्स्न्यें (6-2-93)

सर्वशब्दः गुणकात्स्न्यें वर्तमानः अन्तोदात्तो भवति। यथा सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः। अत्र सूत्रेऽपि आकडारसूत्रोक्तस्य वोतो गुणवचनात् सूत्रोक्तस्य च गुणवाचकस्य ग्रहणं भवति न तु अदेङामथवा धर्मपरकगुणानाम्। यत्र गुणान्तरस्याभावस्तत्र गुणकात्स्न्यं भवति। गुणस्य सर्वत्रभावः गुणकात्स्न्यम् इत्यर्थः। सर्वश्वेत इत्यत्र शुक्लेन गुणेन सर्वावयवानां व्याप्तिः गम्यते। अत्र सूत्रे गुणपदाभावे सर्वं कात्स्न्यें इतीयता उच्यमाने सर्वसौवर्णः, सर्वराजत इत्यादौ अपि अन्तोदात्तः प्रसज्येत। सुवर्णस्य विकारः सौवर्णः, रजतस्य विकारः राजतः इत्यादौ नात्र गुणकात्स्न्यमपितु द्रव्यकात्स्न्यम्। विकारविषयमत्र कात्स्न्यं न गुणविषयम्। अतः आकडारसूत्रोक्तपारिभाषिकमेव गुणोऽत्र ग्राह्यः।

नञो गुणप्रतिषेधे सम्पाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः (6-2-155)

सम्पादि, अर्ह, हित, अलम् इत्येवमर्था ये तद्धितास्तदन्तान्युत्तरपदानि नञो गुणप्रतिषेधे वर्तमानात् पराण्यन्तोदात्तानि भवन्ति इति सूत्रार्थः। यथा - कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं कार्णवेष्टकिकम्, न कर्णवेष्टकिकम् =अकार्णवेष्टकिकम्। अस्मिन् सूत्रे भिन्नोऽयं गुणः स्वीक्रियते। अयमभिप्रायः - तद्धितार्थः- कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादीत्येवमादिवाक्यार्थः। तत्र यत् प्रवृतिनिमित्तं तद्धितान्तस्य शब्दस्य तद्गुणः।

तद्धितार्थः= सम्पाद्यादिः, तस्य यत् प्रवृत्तिनिमित्तं सम्पादित्वादि स गुण इत्यर्थः। अत्र आदिशब्देन तदर्हत्वहितत्वादेः ग्रहणम्। एतादृशगुणप्रतिषेधे सूत्रमिदं प्रवर्तते। अत एव एतादृशगुणस्वीकारादेव गार्दभरथिकादन्योऽगार्दभरथिक इत्यत्र न गुणस्य प्रतिषेधः अपितु गुणिनः पुरुषस्य प्रतिषेधः। अत्र गार्दभरथिकादन्यत्र नञ् वर्तते, न तु गार्दभरथिकत्वस्य प्रतिषेधे पर्युदासत्वादस्य। किञ्च प्रसज्यप्रतिषेधे एव शास्त्रस्यास्य प्रवृत्तिः न तु पर्युदासे इति ध्वनयन् अगार्दभरथिक इति प्रत्युदाहरणम्। यथोक्तं वाक्यपदीये-

संसर्गभेदकं यद्यत् सव्यापारं प्रतीयते।
गुणत्वं परतन्त्रत्वात्तस्य शास्त्र उदाहृतम्[1]॥

संख्याया गुणस्य निमाने मयट् (5-2-47)

अनेन सूत्रेण मयट्प्रत्ययः विधीयते। गुणोऽत्र समानभागः समानावयववचन इत्यर्थः। गुणस्य इत्यत्र कर्मणि षष्ठी। निमाने = मेङ् प्रणिदाने इत्यस्मान्निपूर्वात् करणे ल्युटि, निमीयते क्रीयतेऽनेनेति निमानशब्दः, स च मूल्यवाची। निमाने वर्तमानात्संख्यावाचिनोऽस्येति अर्थे मयट्प्रत्ययो गुणस्य चेन्निमानं भवति। गुणशब्दोऽपि द्विगुणं त्रिगुणम् इत्युक्ते किञ्चिदपेक्ष्यमेवेति गुणशब्दः सापेक्षरूपमाचष्टे। गुणत्वमन्तरेण निमानस्य निमेयस्य च गुणत्वं नोपपद्यते इति सामर्थ्यान्निमानस्यापि गुणत्वं विज्ञायते। अथवा मध्यमणिन्यायेन गुणस्येति उभयान्वयि। तेन गुणकर्मकनिमाने वर्तमानात् गुणगतसङ्ख्यावाचकान्मयडित्यर्थः। एवं च निमानस्य निमेयस्य च भागरूपत्वे निमेयसङ्ख्यापेक्षया निमानसङ्ख्याया आधिक्ये च निमेयस्यैकत्वे चायं प्रत्यय इति बोध्यम्। तेन ऐको यवभागो निमानमस्य उदश्विद्भागस्येत्यत्र त्रयो यवानां भागा निमानमनयोरुदश्विद्भागयो इत्यत्र च न प्रवृत्तिः। अत्र सूत्रस्थगुणपदम् अवयववाचि वर्तते।

न गुणादयोऽवयवाः (6-2-173)

अनेन सूत्रेण बहुव्रीहौ अन्तोदात्तस्वरस्य निषेधः विधीयते। अत्र सूत्रे गुणपदं पारिभाषिकं नास्ति अपितु गुणादीत्यनेन गुणादिराकृतिगणो द्रष्टव्यः। अत्र गणे गुणाक्षरसूक्तध्यायेत्येवम्प्रकाराः अनेके शब्दाः पठिताः। अतः उत्तरपदार्थबहुत्वे यो बहुशब्दो तस्य बहोरुतरे गुणादयोऽवयववाचिनो बहुव्रीहौ नान्तोदात्ता भवन्ति इति सूत्रार्थः। यथा- बहुगुणा रज्जुः। बह्ववयवा इत्यर्थः।

1. वा.प. 3-5-1

विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु (6-2-24)

अनेन सूत्रेण प्रकृतिस्वरः विधीयते। विस्पष्टादीनि इत्यत्र आदिपदेन विस्पष्टगणोऽवबुध्यते यस्मिन् गणे विस्पष्ट-विचित्र-व्यक्त-सम्पन्न-कटु-पण्डित-कुशल-चपल-निपुण-इत्येतानि शब्दानि पठितानि वर्तन्ते। एवम्प्रकारेण सूत्रार्थो भवति-विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि गुणवचनेषूत्तरपदेषु प्रकृतिस्वराणि भवन्ति। यथा-विस्पष्टकटुकम्, विचित्रकटुकम्, व्यक्तलवणम्। अत्र सूत्रे विस्पष्टादयः शब्दाः प्रवृत्तिनिमित्तस्य विशेषणम्, न तु द्रव्यस्य। अयम्भावः विस्पष्टादयोऽत्र कटुकादेः शब्दस्य यत् प्रवृत्तिनिमित्तं कटुकत्वादि तस्य विशेषणम्, न तद्वतो द्रव्यस्य। कटुकम् इत्यत्र संज्ञायां कन् प्रत्ययः विधीयते। कटुकादिभिश्च शब्दैः गुणवत् द्रव्यमभिधीयते। अतः अत्रापि धर्मपरकगुणवचनपदम् इति ज्ञायते।

उपसंहारः

पाणिनीयसूत्रेषु प्रयुक्तगुणशब्दविमर्शनेन ज्ञायते यत् व्याकरणशास्त्रे क्वचित् शास्त्रीयगुणवाचकत्वेन, क्वचित् समस्तकृदन्ततद्धितान्तसर्वनामजातिसंख्याशब्दाति-रिक्तत्वेन, क्वचित् धर्मपरत्वेन, क्वचित् अवयववाचित्वेन, क्वचित् आकृतिगणत्वेन च गुणशब्दः प्रयुक्तः।

अनुशीलितग्रन्थसूची

1. व्याकरणमहाभाष्यम्, भाष्यप्रदीपोद्योतसमुल्लसितम्, संशोधकः - श्रीभार्गव शास्त्रीजोशी, प्रकाशकः -चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानम्
2. काशिकावृत्तिः - न्यासपदमञ्जरीभावबोधिनीसहिता, प्रकाशकः -तारा बुक् एजेन्सि, वाराणसी
3. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनीसहिता, प्रकाशकः-मोतिलालबनारसीदासः
4. तर्कसंग्रहः

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

संस्कृतशास्त्रे गणितविज्ञानम्

(Science of Mathematics in Sanskrit & Shastra)

-डा. रावूरि गायत्रीमुरलीकृष्णः

[शोधपत्रमिदं सस्कृतशास्त्रपरम्परायां गणितं कथं समाविष्टं वर्तते। गणितं कुतः आयातम् एतस्य च वर्तमानकालिकगणितेन साकं सम्बन्धः कीदृशो वर्तते एतत् सर्वं विवेचितम्॥ -सं०]

संस्कृतं संस्कृतेर्मूलं ज्ञानविज्ञानवारिधिः।

अनन्यशास्त्रसमन्वितमिदं भारतीयं विज्ञानं बहूनां विज्ञानानामाधारशिला इव राराष्टि। अस्यां भाषायां विद्यमानं विज्ञानं लौकिक-पारलौकिकज्ञानस्य वारिधिभूतं वरीवर्ति। शासनाच्छंशनाच्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते इति आर्षोक्त्या शास्त्रं नाम न केवलं व्याकरणसाहित्यन्यायमीमांसादिकम् अपितु सर्वविधं विज्ञानं लोकहितैकरूपत्वम् उपदेशयुग् ज्ञानं शास्त्रशब्देनैव निगद्यते। भौतिकरसायनजन्तुशिल्पकृषिगणितज्योतिष-वृष्टिपर्यावरणभूगर्भायुर्वेदप्रबन्धनादीनि शास्त्राणि विज्ञानत्वेन अत्रैव जनिमलभन्त। अतः विज्ञानत्वेन संस्कृतस्य ईषत्स्वरूपनिरूपणमत्र क्रियते।

शास्त्रे गणितविज्ञानम् (Mathematics in the Shastras)

गणानां त्वा गणपतिगुं हवामहे इति मन्त्रोक्तदिशा भास्कराचार्यः, श्रीधराचार्यः, रामानुजः, कणादः इत्यादयः गणितस्य गणपतयःसंजाताः। तेषां मन्त्रद्रष्टृणामनुसन्धान-फलत्वेन भारतीयं गणितशास्त्रं सम्पूर्णे विश्वे नागानां मणिरिव मूर्ध्नि विराजते अथ चोक्तं वेदाङ्गज्योतिषे-

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्॥[1]

आधुनिकगणितशास्त्रस्य नामकरणं वेदेष्वपि प्रकारान्तरेण लभ्यते एव। यजुर्वेदतैत्तिरीयब्राह्मणे गणक-गण-गणपति-गणश्रि-गणिन-गण्यादिशब्दाः गणितशास्त्रार्थे

1. वेदाङ्गज्योतिषम्-याजुष्-4

एव प्रयुक्ताः। ऋग्वेदेव्रातंव्रातम् गणगणिति इति रूपेण प्रयुक्ताः। अथर्ववेदेनिधि-निधिपति-निधिपा इति शब्दैः गणितं परिगण्यते स्म। एवमेव वेदेषु छन्दसां रचनापि गणिताधारिता अस्ति। अत्र अक्षराणां गणनप्रक्रियया सह आङ्ग्लभाषायाः बैनरीप्रक्रियायाः (Binary System) इत्यस्यापि महत्त्वं विद्यते स्म यथा-

गायत्रीछन्दसि - 24 वर्णाः

अनुष्टुप्-छन्दसि - 32 वर्णाः

त्रिष्टुप्-छन्दसि - 44 वर्णाः

जगतीछन्दसि - 48 वर्णाः विद्यन्ते।

अतः वेदे शास्त्रे च प्रत्येकस्मिन् अङ्गे गणितीयप्रतीतिः विद्यते एव तस्मात् अस्मिन् संस्कृतं गणितशास्त्रस्य आधारशिला कथं भवतीतिनिरूप्यते।

क्षेत्रगणितम् अथवा ज्यामितिः (Geometry)

ज्यामितिः इति शब्दादेव अवतरितः Geometry इत्याङ्ग्लशब्दः। यस्य वर्णनं कल्पसूत्रेषु सुष्ठु निरूपितम्। तथैव क्षेत्रगणितस्य (Geometry) सिद्धान्तानां वर्णनं प्रामुख्येन कल्पसूत्रेषु प्रोक्तम्। क्षेत्रगणितं (Geometry) बीजगणितम् इति पृथग्पृथग्विभागः सर्वप्रथमं ब्रह्मगुप्तेन ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तः इत्यस्मिन् ग्रन्थे विहितः। वेदोपनिषत्सु संख्यानां दशगुणोत्तरक्रमसंज्ञावर्णनम् इत्थं विहितम् -

एकम्	=	10^0	दश	=	10^1
शतम्	=	10^2	सहस्त्रम्	=	10^3
अयुतम्	=	10^4	नियुतम्	=	10^5
प्रयुतम्	=	10^6	कोटिः	=	10^7
अर्बुदम्	=	10^8	न्यर्बुदम्	=	10^9
खर्वः	=	10^{10}	निखर्वम्	=	10^{11}
महापद्म	=	10^{12}	शङ्खः	=	10^{13}
समुद्रम्	=	10^{14}	मध्यम्	=	10^{15}
अन्तः	=	10^{16}	परार्थम्	=	10^{17}

उपर्युक्तगणना आधुनिकगणितज्ञैः उपयुज्यमानायाः दाशमिकप्रणाल्यन्तर्गततया-Binary Numbering System इति कथ्यते। अत्र परीर्थ इत्यस्य लेखनमित्थं स्यात्-10000000000000000। अस्य आङ्ग्लभाषायां साक्षात् शब्दःन विद्यते इत्यवगन्तव्यम्।

अत्र प्रश्नः एष उदेति यत् अतिप्राचीने भारते परार्थस्य गणनायाः अवसरः किमर्थं संजातः इति।

अङ्कानां गुणधर्मः

भास्कराचार्येण लिखिते लीलावतीत्याख्ये ग्रन्थे अङ्कानां गुणधर्मः लिखितः अस्ति। अस्य ग्रन्थस्यानुसारेण अङ्कानां गुणधर्मविषये इदमेव ज्ञातं यतद् अङ्कानां वामतो गतिः भवतीति। यथा- 1,46,22,37,800 इयं संख्या लिखिता। यथा-ख -0 अष्ट-8, मुनि- 7, राम-3, अश्वि-4, नेत्र-2, ऋतु-6, शर-5 रात्रिपः-1 इत्यादिरूपेण गणना क्रियते स्म।आर्यभट्टीयग्रन्थे आर्यभट्टीयपद्धत्यनुसारेण अङ्कानां लेखनप्रक्रिया क्रिष्टाब्धेः 476 मध्ये एव सुस्पष्टीकृता यत् -

वर्गाक्षराणि वर्गे अवर्गे अवर्गाक्षराणि कात्ङ्मौ यस्।
खद्विनवके स्वरास्नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा॥[1]

अर्थात् अस्य सूत्रस्य व्याख्या इत्थं कर्तु शक्या -'क' वर्गतः 'प' वर्गपर्यन्तम् अथवा क ख ग ..... म पर्यन्तं 25 अक्षराणि क्रमेण भवन्ति। तेषामक्षराणां लेखनं 1 तः 25 पर्यन्तं यथाक्रमं योजनीयम्। अवर्गाक्षराणि'य' प्रभृति 'ह' पर्यन्तं क्रमेण- य-30, र-40, ल-50, व-60, श-70 ष-80, स-90, ह-100 भवन्ति। अनेन अवगम्यते केवलाक्षरैः गणितस्य Coding अथवा De&coding प्रक्रिया प्रोक्ता इति। अस्य कः अवसरः इति पृष्टे सति इदमवधेयं यत् मनोविज्ञानानुगुणं सामान्यबुद्धिमतां संख्यायाः स्मरणक्षमता अधिकतया 10 पर्यन्तं भवति। उदाहरणार्थं स्वकीयदूरवाणीसंख्या यदि उच्यते चेत् 10 अङ्कपरिमितं स्मर्तुं शक्नुयुः। ततोप्यधिकं चेत् सुलभतया ग्रहणं न सम्भवति। परं यत्र विभिन्नसंख्याः भिन्नरीत्या प्रोक्ताश्चेत् सुतरां स्मर्तुमसर्थाः भवेम। यथा भारते स्वस्य आधारसंख्यां कति वा स्मरेयुः। अतः अत्यन्तसरलतया संख्यां स्मर्तुं भारतीयैः अयं क्रमः निर्धारितः। एतस्याः क्रमस्य नामैव कटपयादिसंख्याक्रमः।

गणितशास्त्रे कटपयादिपध्दतिः

नञावचश्च शून्यानि सङ्ख्याकटपयादयः।
मिश्रे तूपान्त्यहल् सङ्ख्या न च चिन्त्यो हलस्वरः॥[2]

---

1. आर्यभटीयम्-दशगीतिका-पादम्- 1 श्लोकः- 2
2. शंकरवर्मणा रचितं सद्रत्नमाला

कटपयादि संख्या - ka Tapay Adi for Melakarta Ragam Names & Numbers

1	2	3	4	5	6	7	8	9	0
क	ख	ग	घ	ङ्	च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म					
य	र	ल	व	श	ष	स	ह		
ka	kha	ga	gha	nga	cha	Cha	ja	Jha	nya
Ta	Tha	Da	Dha	Na	ta	tha	da	dha	na
pa	pha	ba	bha	ma					
ya	ra	la	va	sha	Sha	sa	ha		

अर्थात् एतेषां संख्यानां गणना पदसमूहाधारिता निश्चीयते। यथा -

अमुं कटपयादिसंख्याक्रममनुसृत्य Decoding कथं कर्तुं शक्नुमः इति एकं शास्त्रीयं उदाहरणमत्र प्रस्तूयते -

गोपीभाग्यमधुव्रात शृङ्गिशो दधिसन्धिग।
खलजीवितखतावा गलहालारसन्धर॥

अत्र साक्षात् दर्शने कृष्णस्य वर्णनमिति भाति। यथा "O Lord anointed with the yoghurt of the milkmaids' worship (Krishna), O savior of the fallen, O master of Shiva, please protect me-" किन्तु अस्मिन् श्लोके पै इत्यस्य 31 पर्यन्तम् अंकानां (Digits) सिद्धिः जायते। कटपयादिसंख्याक्रमानुगुणं श्लोके विद्यमानं प्रत्येकम् अक्षरं संख्यारूपेण विपरिणमय्य इत्थं संख्यां साधयितुं शक्नुमः। गो-3, पी-1, भा-4, ग्य (य)-1, म -5, धु-9, व्र(र)-2, त-6 ... = 3.14159265358979323846264338327 92 इति पै मूल्यं लभ्यते।

अन्यदेकमुदाहरणं ज्योतिषच्छात्राणां कृते ग्रहाणां महादशा तथा वर्षाणि ज्ञातुं श्लोकः अयमुपयुज्यते -

इन1शशि2कुज3राहु4जीव5मन्द6ज्ञ7केतु8र्भृगुज9इति नवानां

कृत्तिकादिक्रमेण। तनु10 नय11सिनु12 जाया13 तोय14 धाया15 सटा16 सा17 नर18इति विदुरब्दान् भास्करादिक्रमेण।।

अर्थात् कृत्तिकादिनक्षत्रेण ग्रहमहादशाः क्रमेण इत्थं भवन्ति - 1 आदित्यस्य, 2 चन्द्रस्य, 3 भौमस्य, 4 राहोः, 5 गुरोः, 6 शनैश्चरस्य, 7 बुधस्य, 8 केतोः, 9 शुक्रस्य महादशाः भवन्ति। तेषां ग्रहाणां विंशोत्तरीदशावर्षाणि आदित्यतः क्रमशः त-6, नु-0 अर्थात् 06 (अङ्कानां वामतोगतिः), न-0, य-1, अर्थात् 10, सिनु - 07, जाया - 18, तोय - 16, धाया - 19, सटा - 17, सा - 7, नर - 20 भवन्ति।

एवमेव ऋग्वेदे रेखागणितस्य/ज्यामितेः (Geometry)अनेकानेकगुण-धर्माः प्रोक्ताः। ये रेखागणितस्य पारिभाषिकशब्दैः ज्ञायन्ते। यथा -

कासीत् परमा परतिमा किं निदानम्
आज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।।
छन्दः किमासीत परौगं किमुक्तं
यद देवा देवमयजन्त विश्वे।।[1]

अत्र परौगम् इति पदं शुल्बसूत्रेषु समद्विबाहुत्रिभुजस्य कृते प्रयुक्तम् अभवत्। गणितशास्त्रे परिधिः (Circumference) व्यासः (Diameter)च π (Pie) इत्यस्य मानं परिगणयति। यथा -

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत् ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नहूरणादुरु
वित्तं मे अस्य रोदसी।।[2]

वृत्तस्य (Circle) परिधि-व्यासयोः अन्तस्सम्बन्धः

आर्यभट्टमहोदयेन 476 तमे वर्षे आर्यभटीयगणितपादे वृत्तस्य (Circle) परिधि-व्यासयोः अन्तस्सम्बन्धविषये (Relation Between Circumference & Diameter of Circle) अतिसूक्ष्मं सार्वभौमिकं च मानं प्रस्तुतम्। यथा -

(π) इत्यस्य मानम् =वृत्तस्य परिधिः ÷ वृत्तस्य व्यासः

यदा वृत्तस्य परिधिः = 104 x 8+ 62,000 = 62,832 एवं वृत्तस्य व्यासः = 20,000 तदा 'पै' (π) = 62,832 ÷ 20,000 = 3.146 भवतीति निरूपितम्।

'π'= 22/7 इति परिधेःगुणनं क्रियते चेत् तदनन्तरं शेषम् अवशिष्टं भवति।

1. ऋग्वेदः- मण्डलम्-10 सूक्तम्- 130 मन्त्रः- 3
2. ऋग्वेदः- मण्डलम्- 1 सूक्तम्- 105 मन्त्रः- 17

अत्र अन्तं नास्ति। अतः 'चश्अपरिमेया (Irrational Number) संख्या भवति। नीलकण्ठोऽपि अब्रवीत् यत् 'पै' (π) एका विशिष्टा अपरिमेया संख्या (Irrational Number) इति। भारतीयगणितज्ञेन भास्कराचार्येण प्रणीते लीलावतीत्याख्ये ग्रन्थे 'पै' (π) इत्यस्य विशिष्टमानम् 22/7=3.1416 इति प्रदत्तम्। भास्कराराचार्यः द्वितीयः (1114 ई.) 'पै' (π) इत्यस्य स्थूलसूक्ष्मद्वयोः मानं प्रादात् यत् -

व्यासे भनन्दाग्नि (3927), हते विभक्ते,
खबाणसूर्यैः (1250), परिधिस्तु सूक्ष्मः।
द्वाविंशतिः (22), घ्ने विह्रतेऽथ शैलैः (7),
स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः॥[1]

उपरोक्तश्लोके व्यासे भनन्दाग्नि = 3927, खबाणसूर्यैः = 1250, विह्रतेऽथ शैलैः =7,घ्ने = 22 इति प्रक्रियानुगुणमभिज्ञायते यत् 'पै' (π) इत्यस्य सूक्ष्ममानं प्रदत्तमिति। भास्कराचार्यमहोदयेन वृत्तस्य व्यासात् वृत्तस्य परिधिं (Circumference of Circle) व्यासं (Diameter) च गणयितुं सूत्रं प्रस्तुतम्। अतः प्राचीनभारतीयशास्त्रेषु भारतीयगणितशास्त्रदर्शनानां विशिष्टप्रतिमानानि (Model) प्रदत्तानीति अभिज्ञायते। यत्र बोधायनः, कात्यायनः,आपस्तम्बश्च गणितस्य नैकरहस्यमयान् आविष्कारान् कृतवन्तः।

शास्त्रे प्रथितः पाइथागोरसप्रमेयः (Pythagorean Theorem)

वैदिककाले अपि गणितशास्त्रस्य वास्तिकस्वरूपं शुल्वसूत्रेषु वेदाङ्गेषु कल्पसूत्रेषु च वर्तते। शास्त्रे शुल्वःनामयज्ञपीठमापकसूत्रम्। आधुनिके काले 'पाइथागोरस' (Pythagorean Theorem) नाम्ना प्रसिद्धं वर्तते। यः सिद्धान्तः सुप्रसिद्धरेखागणितज्ञेन बोधायन-पाइथागोरसमहोदयेनैव प्रतिपादितः। यथा -

(क) यत्र एकस्य दीर्घचतुरस्रस्य कर्णेन जनितचतुरस्रवैशाल्यम् तदीयैः असमभुजैः जनितयोः द्वयोः चतुरस्रवैशाल्ययोः समूहस्य समानम् इति।

(ख) रेखागणितस्य प्रसिद्धवर्गाधारितस्य विशालकोणत्रिभुजस्य कर्णे त्रिभुजविनिर्मितानां वर्गाणां प्रमेयः इति पाइथागोरससिद्धान्तः। एतदेव शास्त्रानुगुणं सूच्यते यत् -

दीर्घचतुरश्रस्याक्ष्या रज्जुः पार्श्वमानी,
तिर्यग्मानी च यत् पृथग्भूते कुरुतः।
तदुभयं करोतीति क्षेत्रज्ञानम्॥[2]

उपसंहारः- भारतीयं भौतिकविज्ञानमत्यन्तं सूक्ष्मरूपात्मकं विद्यते यत्र परार्थः,

1. लीलावती-क्षेत्रव्यवहार-श्लोकः- 98
2. बोधायनशुल्बसूत्रम्-अध्यायः-1 श्लोकः- 48

कला, क्षणमित्यादीनामतिबृहद्व्यापनानामुल्लेखेन सह अतिसूक्ष्मविभागानां गणना अपि कृता विद्यते तत्र तेषां प्रयोगः किमर्थं कुत्र विहितः इति प्रश्नार्थकः विषयः विद्यते। मध्ये बहूनां ग्रन्थानां लुप्तताया: कारणतः तथा भारतीभाषायाः वैविध्यकारणतः कामपि कूटभाषा (code language) भारतीयैः लुप्ता इति भाति। यावद् वयं वेदकाले आविष्कृतानां विभिन्नप्रकारकगणितभौतिकविज्ञानांशानामाविष्कारस्य मूलकारणं किमिति न जानीमः तावत् पर्यन्तं भारती भाषारूपेणैव भाति। यदा कूटभञ्जनं भवति तदा भारती भा रती भूत्वा भारते भातीति ब्रूमः।

सन्दर्भग्रन्थसूची -

1. वेदों में विज्ञान (2000), डा. कपिलदेवद्विवेदी, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही), उ.प्र. - 221304.
2. Science & Technology in Indian through the Ages (2003), Academy of Sanskrit Research, Melkote, Karnataka.
3. Planet Earth & A visual fact finder (1993), MichaelAllaby and Neil Curties, Kingfisher Books, Grisewood & Dempsey Ltd- Esley House, 24&30 Great Titchfield Street, London.
4. History of Science & Technology (1990), G. Kuppuran & K-Kumadani, Sandeep Prakashan, New Delhi-
5. Samskritavanmaye Vijnanam (1999), Shrikrishna Somavalah, Delhi Samskriuta Academy, New Delhi,
6. प्रसिद्धशास्त्रविदुषां शास्त्राधिगमे मनोवैज्ञानिककारकाणामध्ययनम् (2013), K.N.S. Ramam, Research Thesis, R.S. Vidyapeeth, Tirupati.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

अचिन्त्यभेदाभेदवाद : एक विमर्श

- डॉ. अंजना शर्मा
सहाचार्या, वनस्थली विद्यापीठ,
राजस्थान-304022

[दार्शनिकक्षेत्रे अनेके वादाः सन्ति, तेषु वादेषु प्रस्तुतोऽयं अचिन्त्य-भेदाभदेवादः श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुणा प्रतिपादितः। वादोऽयं प्राचीनेभ्य वादेभ्यः भिन्नो वर्तते। अस्मिन् श्रीकृष्ण एव जगन्नियन्ता वर्तते तेन साकं संसारस्य सम्बन्धः कीदृशः इति विषयो चर्चितोऽत्र। -सं०]

वैष्णव वेदान्त में ब्रह्म, जीव और जगत्-तत्त्वत्रय मान्य हैं। किन्तु इनका स्वरूप और इनमें परस्पर सम्बन्ध गंभीर चिन्तन का विषय रहा है। आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इस विषय का चिन्तन कर मत प्रस्तुत किए हैं। जैसे रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद, भास्कराचार्य ने औपाधिक भेदाभेदवाद, निम्बार्काचार्य ने स्वाभाविक भेदाभेदवाद और वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद। इसी क्रम में श्रीकृष्णचौतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित अचिन्त्यभेदाभेदवाद अद्वितीय सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त पूर्वकथित सिद्धान्तों से भिन्न नवीन दृष्टि से ब्रह्म, जीव-जगत् का स्वरूप और उनमें परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करता है। अतः इस सिद्धान्त का स्वरूप और इसकी अन्य सिद्धान्तों से भिन्नता स्पष्ट करना शोधपत्र का विषय है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है। इनका समय सन् 1486 से सन् 1533 है।[1] इन्होंने मौखिक रूप से अपने अनुयायियों के समक्ष इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसका उल्लेख कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने अपने चैतन्य चरितामृत ग्रन्थ में किया है। तदनन्तर इनके अनुयायी दार्शनिकपण्डितधुरन्धर जीवगोस्वामी ने अपने षट्सन्दर्भ और सर्वसंवादिनी नामक दार्शनिक ग्रन्थों के माध्यम से इस सिद्धान्त को सुदृढ़

---

1. द अर्ली हिस्ट्री ऑफ द वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बंगाल, सुशील कुमार डे, पृ. 107, कलकत्ता।

दार्शनिक भित्ति पर प्रतिष्ठित किया। अतः इन ग्रन्थों के द्वारा ही अचिन्त्यभेदाभेदवाद का स्वरूप ज्ञेय है।

अचिन्त्यभेदाभेदवाद का स्वरूप-

अचिन्त्यभेदाभेदवाद के अनुसार परब्रह्म श्री कृष्ण और जीव जगत् में अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध है। परब्रह्म श्रीकृष्ण की शक्ति के रूप में जीव जगत् आदि की प्रतिष्ठा है। इनमें परस्पर भेद और अभेद दोनों हैं। जीवगोस्वामीपाद कहते हैं कि भगवान् में उनकी स्वरूपादि शक्तियों से अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य है। अतः वह भिन्न प्रतीत होता है। उनसे भिन्न रूप में चिन्तन करना अशक्य है, फलतः वह अभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार शक्तिमान् (भगवान्) और शक्ति (स्वरूपादि) में भेद और अभेद-दोनों सिद्ध होते हैं।[1] ये दोनों भेद और अभेद अचिन्त्य शक्ति के कारण अचिन्त्य हैं।[2] शक्ति के अचिन्त्यत्व से तात्पर्य है- असंभव को संभव करना' - 'दुर्घटघटकत्वं हि अचिन्त्यत्वं।"[3] "अचिन्त्य वह है, जिसे अपरिहार्यतः तथ्यों की व्याख्या के हेतु स्वीकार करना पड़ता है, परन्तु जो तर्क की संवीक्षा सहन नहीं कर सकता है।[4] अचिन्त्य वह है, जो भिन्न है अथवा अभिन्न है - इस प्रकार विकल्प रूप में जिसका चिन्तन अशक्य है, जो केवल अर्थापत्ति प्रमाणगोचर है।[5] इस प्रकार अचिन्त्य के कारण शक्ति असम्भावयित्री और दुस्तर्का है। इस अचिन्त्य शक्ति से युक्त होने के कारण भेद और अभेद दोनों अचिन्त्य हैं। अतः यह भेदाभेद अचिन्त्यभेदाभेदवाद कहलाता है।

अचिन्त्यभेदाभेद का सिद्धान्त व्यापक सिद्धान्त है। यह शक्तिमान् और शक्ति के सम्बन्ध की अद्‌भुत व्याख्या करता है। शक्ति, कार्योन्मुख शक्तिमान् का स्वरूप है, अन्यथा स्वतः स्वरूप का शक्तित्व नहीं है।[6] अतः शक्ति-शक्तिमान् से पृथक् नहीं है। वह अविच्छेद्य भाव से उसमें नित्य वर्तमान है। दोनों अभिन्न हैं। जैसे अग्नि में दाहिकाशक्ति और कस्तूरी में गन्ध। कार्योन्मुख अग्नि ही दाहिका

---

1. सर्वसंवादिनी, पृ. 33, जीवगोस्वामी, सम्पादक - कृष्णदास, मथुरा, संवत् 2022
2. उपर्युक्तवत्, पृ 146
3. भगवत्सन्दर्भ, पृ. 66, जीवगोस्वामी, सम्पादक - श्यामदास ब्रजगौरव प्रकाशन, वृन्दावन, सन् 1990
4. सर्वसंवादिनी, पृ. 55
5. उपर्युक्तवत्, पृ. 55
6. उपर्युक्तवत्, पृ. 32

शक्ति है और कार्योन्मुख कस्तूरी ही गन्ध है। शक्ति विशेषण है और शक्तिमान् विशेष्य है। विशेषण और विशेष्य मिलकर ही किसी वस्तु की सत्ता निर्धारित करते हैं। दोनों में अभिन्नता है। किन्तु कभी-कभी शक्ति का अनुभव न होने पर भी शक्तिमान् का अनुभव होता है। जैसे- मन्त्रादि के प्रभाव से किसी-किसी वस्तु की शक्तिमात्र स्तम्भित होती देखी जाती है, किन्तु वस्तु का अस्तित्व रहता है।[1] जैसे मन्त्र महौषधि के प्रभाव से अग्नि की दाहिका शक्ति स्तम्भित हो जाती है। विशेष औषधि लगा लेने से अग्नि में हाथ डालने पर भी हाथ नहीं जलता, किन्तु ऐसा होने पर भी अग्नि रहती है। इस प्रकार शक्ति का अनुभव न होने पर भी शक्तिमान् का अनुभव होता है। अतः शक्ति से शक्तिमान् भिन्न भी है। शक्तिमान् से शक्ति को पृथक् नाम से अभिहित करना सङ्गत है। शक्तिमान् में उसकी स्वरूपादि शक्तियों से अभिन्न रूप से चिन्तन करना अशक्य है और वह भिन्न प्रतीत होता है। और उनसे भिन्न रूप से चिन्तन करना भी अशक्य है। फलतः वह अभिन्न प्रतीत होता है। इस प्रकार शक्तिमान् तथा शक्ति से भेद और अभेद-दोनों सिद्ध होते हैं।[2] ये दोनों ही अचिन्त्य शक्ति से युक्त होने के कारण अचिन्त्य हैं।[3]

यहाँ एक शंका होती है कि यह अचिन्त्य शक्ति किसकी है? ब्रह्म की अथवा वस्तुमात्र की। क्योंकि जीवगोस्वामीपाद ने यह अचिन्त्य शक्ति ब्रह्म की है अथवा वस्तुमात्र की इस विषय में कुछ नहीं कहा? इस शंका का समाधान यह प्रतीत होता है कि जीवगोस्वामीपाद अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त को व्यापक रूप प्रदान करना चाहते हैं। अतः उन्होंने शक्तिमान् के विषय में कुछ नहीं कहा। यदि वे ब्रह्म का अचिन्त्यशक्तिमयत्व कहते तो, यह अचिन्त्यभेदाभेद का सम्बन्ध ब्रह्म और उसकी शक्ति के मध्य ही सीमित रहता, किन्तु उनके मत में यह सम्बन्ध वस्तुमात्र और उसकी शक्ति के मध्य भी है। वे वस्तुमात्र की भी अचिन्त्यशक्ति को स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ यह मानना समीचीन है कि वस्तुमात्र और उसकी शक्ति के मध्य अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध में अचिन्त्यशक्ति वस्तु की है। ब्रह्म और उसकी शक्ति के मध्य अचिन्त्यभेदाभेदसम्बन्ध में अचिन्त्यशक्ति ब्रह्म की है। किन्तु वस्तुमात्र की अचिन्त्य शक्ति का अभिप्राय आनुषंगिक रूप में है। इसका मुख्य अभिप्राय ब्रह्म की अचिन्त्यशक्ति से है। ऐसा मानने के दो विशेषकारण हैं।

---

1. सर्वसंवादिनी, पृ. 33
2. स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद्भेदः भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद- भेदश्च प्रतीयत इति शक्तिमतोर्भेदाभेदावेवाङ्गीकृतौ तौ च अचिन्त्यौ इति।। उपरिवत्, पृ. 33
3. स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।। उपरिवत्, पृ. 146

(1) महाप्रभु ने अचिन्त्यभेदाभेद के सिद्धान्त का उल्लेख किया है, ब्रह्म और जीव-जगत् के बीच सम्बन्ध के संदर्भ में, न कि वस्तुमात्र में शक्ति और शक्तिमान् के बीच सम्बन्ध के संदर्भ में। इस सम्बन्ध में उन्होंने भगवान् की ही अचिन्त्य शक्ति का उल्लेख किया है, न कि भेदाभेदयुक्त प्राकृतिक वस्तुओं की अचिन्त्य शक्ति का उल्लेख किया है।[1]

जगत् रूप में परिणती प्राप्त करके भी ईश्वर अपने स्वरूप में अविकृत रहता है, इस बात को सिद्ध् करने के लिए उन्होंने प्राकृत जगत् का एक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जिस प्रकार चिन्तामणि से नाना प्रकार के रत्न प्रकट होते हैं, फिर भी उसका अपना स्वरूप विकृत नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर अपनी शक्ति से जगत् को प्रकट करके भी अविकृत रहता है और इसी सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि जब प्राकृत वस्तु में इस प्रकार की अचिन्त्य शक्ति देखने में आती है तब ईश्वर में अचिन्त्य शक्ति हो, इसमें विस्मय की क्या बात है?[2]

इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति को समझाने के लिये ही प्राकृत वस्तुओं की अचिन्त्य-शक्ति का दृष्टान्त रूप में उल्लेख किया है। मुख्य रूप से उनका अभिप्राय वस्तुमात्र की अचिन्त्य शक्ति से नहीं, ईश्वर की अचिन्त्य शक्ति से ही है।

जीवगोस्वामीपाद ने भी ब्रह्म और जीव-जगत् के बीच सम्बन्ध के विषय में भास्कर, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि के मतों का उल्लेख करते हुए कहा है कि "स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तिमयत्वादिति।"[3] इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अचिन्त्य भेदाभेद सिद्धान्त का उल्लेख ब्रह्म और जीव-जगत् के सम्बन्ध को लेकर ही किया है और अचिन्त्य शब्द से उनका तात्पर्य ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति से ही है।

(2) यदि मान लिया जाय कि 'अचिन्त्य' शब्द से तात्पर्य वस्तुमात्र की अचिन्त्य शक्ति से है, ब्रह्म की अचिन्त्य-शक्ति से नहीं, तो ब्रह्म के स्वरूप से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं का हल न हो सकेगा। साधारण वस्तुओं की अचिन्त्य-शक्ति, शक्ति और शक्तिमान् में भेद और अभेद की युगपत् स्थिति का ही कारण होती है। वस्तु को शक्ति के परिणाम से अविकृत रखने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। वस्तु और उसकी शक्ति में स्वाभाविक अभेद के कारण शक्ति

---

1. चौतन्यचरितामृत, 1/7/117 कृष्णदास कविराज, हरिनाम संकीर्तनमण्डल, वृन्दावन सन् 1965-65
2. चौतन्यचरितामृत, 1/7/120
3. सर्वसंवादिनी, पृ. 149

के दोषों से वस्तु दूषित हुए बिना नहीं रहती। मनुष्य अच्छे या बुरे कर्म करे और उसके कर्मों के गुण या दोष उसकी कर्म करने की शक्ति तक ही सीमित रहें, उसे स्पर्श न करें, यह संभव नहीं है। परब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति उसे अपनी शक्ति के परिणामों और उनके दोषों के कारण विकृत नहीं होने देती है। इससे स्पष्ट है कि परब्रहा की अचिन्त्यभेदाभेद की शक्ति वस्तुमात्र की अचिन्त्यभेदाभेद की शक्ति से सर्वथा भिन्न है और श्रीकृष्णचौतन्यमहाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेद का सिद्धान्त परबह्म की अचिन्त्य शक्ति लेकर ही है, वस्तुमात्र की अचिन्त्य शक्ति को लेकर नहीं।"[1]

इस प्रकार अचिन्त्यभेदाभेदवाद में भेदाभेद अचिन्त्य शक्ति से युक्त होने के कारण अचिन्त्य है और इसका मुख्य अभिप्राय ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति से है। अचिन्त्यभेदाभेदसिद्धान्त का अचिन्त्य अद्वैत मत के माया सिद्धान्त के "अनिर्वचनीय से भिन्न है। क्योंकि माया सिद्धान्त का अनिर्वचनीय निषेधात्मक है। वह माया में सत् और असत् दोनों विरोधी गुणों का निराकरण करता है। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त विधेयात्मक है। वह शक्ति और शक्तिमान् के बीच भेद और अभेद दोनों विरोधी गुणों को समाविष्ट करता है।

अन्यभेदाभेदवाद और अचिन्त्यभेदाभेदवाद - तुलनात्मक अध्ययन

1. अद्वैतवाद और अचिन्त्यभेदाभेदवाद :

अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म एकमात्र अद्वैततत्त्व है। अन्य सभी पदार्थ असत् हैं। जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है। शुक्ति में रजत की भ्रान्त प्रतीति के समान मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म ही अविद्योपाधि के कारण जीव है। जब तक बुद्धि रूप उपाधि के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है, तभी तक जीव का जीवत्व और संसारित्व है।'[2] अविद्या निवृत्ति होने पर जीव अपने स्वरूप को प्राप्त होता है और जीवों का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है।'[3] अतः ब्रह्म और जीव में भेद कल्पित है, उपाधि के कारण है। वस्तुतः दोनों में अभेद है।

---

1. श्रीचैतन्यमहाप्रभु का दार्शनिक सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेद, अवधबिहारी लाल कपूर, पृ. 202 203, परमार्थ प्रकाशन, वृन्दावन, संवत् 2038
2. शांकरभाष्य, 2/3/30, शंकराचार्य, भामतीटीका सहित, भामती-व्याख्याकार, स्वामी योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, 1996
3. ब्रह्मसूत्र 1/4/3, शांकरभाष्य, भामतीटीका

इस प्रकार अद्वैतवाद पूर्णतया अभेद को ही स्वीकार करता है। उसमें भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवाद भेद और अभेद-दोनों को समान रूप से स्वीकार करता है।।

2. विशिष्टाद्वैतवाद और अचिन्त्यभेदाभेदवाद -

विशिष्टाद्वैतवाद आचार्य रामानुज का मत है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह सविशिष्ट अद्वैत को स्वीकार करता है- (विशिष्टस्य अद्वैतं)। इस मत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म परमतत्त्व है, जो कि चित् (जीव) और अचित् (जगत्) दोनों से विशिष्ट है।[1] ब्रह्म के विशेषण स्वरुप होने से जीव और जगत् भी सत्य हैं। अतः आधारभूत तत्त्व के रूप में ब्रह्म, जीव और जगत् - ये तीन तत्त्व हैं। किन्तु इनका स्तर समान नहीं हैं, अपितु भिन्न-भिन्न है। इनमें चरमसत्ता एकमात्र ब्रह्म है, जो कि स्वाधीन है, शेष दोनों जीव-जगत्, ब्रह्माधीन और नियंत्रित हैं।

ब्रह्म और जीव-जगत में क्या सम्बन्ध है? यह समझाने के लिए रामानुजाचार्य शरीर-शरीरी भाव[2] की सहायता लेते हैं। शरीर-शरीरी भाव के अनुसार ब्रह्म आत्मरूप है और जीव-जगत् उसके शरीर हैं। यहाँ शरीर से तात्पर्य मानवीय देह से नहीं है। अपितु उस द्रव्य से है, जिसे चेतन आत्मा अपने प्रयोजन हेतु धारण करती है, नियमन करती है, कार्य में प्रवृत्त करती है और जो पूर्णतया उस आत्मा के अधीनस्थ है। इस दृष्टि से समस्त विश्व ब्रह्म द्वारा नियन्त्रित और ब्रह्म के अधीनस्थ रहता है। ब्रह्म के शरीरभूत होने पर भी सृष्टि की अवस्था में जीव के दोषों और जगत् के विकारों से ब्रह्म प्रभावित नहीं होता है। जैसे - शारीरिक विकारों अथवा दोषों से आत्मा प्रभावित नहीं होती है। अतः जीव-जगत् और ब्रह्म में शरीर-शरीरी सम्बन्ध है। इस विशिष्ट सम्बन्ध को रामानुज ने अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध कहा है। इसके अनुसार जीव-जगत् पूर्णतया ब्रह्माश्रित हैं, ब्रह्म उसका अन्तर्यामी है। अतः उससे अभिन्न है। किन्तु भिन्न भी है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष है, जीव-जगत् दोष और विकारों से युक्त हैं। ब्रह्म पूर्ण और विभु है, किन्तु जीव अपूर्ण एवं अणु है। अतः ब्रह्म और जीव-जगत् में भेदाभेद सम्बन्ध है।

---

1. फण्डामेण्टल ऑफ विशिष्टावेदान्त, एस.एम. श्रीनिवासाचारी, पृ. 26, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2004,
2. श्रीभाष्य 1/1/1, 2/1/9, रामानुजाचार्य, सम्पादक, प्रो. एम.ए. लक्ष्मीताताचार्य, मेलुकोट, 1985

इस प्रकार विशिष्टाद्वैतवाद भेदाभेदवाद है। यह सिद्धान्त ब्रह्म और जीव-जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या द्रव्य-गुण-भाव और शरीर-शरीरी-भाव के आधार पर करता है। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवाद शक्ति-शक्तिमान् सम्बन्ध के आधार पर जीव-जगत् और ब्रह्म के सम्बन्धों की व्याख्या करता है। विशिष्टाद्वैतवाद भेद की अपेक्षा अभेद पर अधिक बल देता है। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवाद भेद और अभेद दोनों को समानरूप से स्वीकार करता है।

3. औपाधिक भेदाभेदवाद और अचिन्त्यभेदाभेदवाद -

आचार्य भास्कर औपाधिक भेदाभेद के आधार पर जीव-ब्रह्म के सम्बन्धों की व्याख्या करते हैं। उनके मत में जीव और ब्रह्म में अभेद है। जीव का वास्तविक रूप ब्राह्म रूप है। जीवत्व औपाधिक है।[1] जीवत्व रूप में ही उसकी ब्रह्म से भिन्नता है। अतः उपाधि-बन्धन की अवस्था में ही जीव का ब्रह्म से भेद है। मुक्ति की अवस्था में दोनों में अभेद है।[2] इस प्रकार ब्रह्म और जीव में परस्पर भेद-अभेद है। अभेद स्वाभाविक, आन्तरिक, सत्य और शाश्वत। किन्तु भेद स्वाभाविक आन्तरिक और शाश्वत नहीं हैं। केवलमात्र औपाधिक है।

औपाधिक भेदाभेदवाद अचिन्त्यभेदाभेदवाद से भिन्न है। क्योंकि औपाधिक भेदाभेदवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म में भेद जीव की बन्धन की अवस्था में ही है, मुक्ति की अवस्था नहीं है। मुक्ति की अवस्था में दोनों में अभेद है। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवाद जीव-ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों को मुक्ति की अवस्था में भी उसी प्रकार मानता है, जिस प्रकार बन्धन की अवस्था में स्वीकार करता है। औपाधिक भेदाभेदवाद भेद की अपेक्षा अभेद पर अधिक बल देता है। किन्तु अचिन्त्य भेदाभेदवाद भेद और अभेद को समानरूप से मानता है। औपाधिक भेदाभेदवाद भेद को उपाधिकृत मानता है। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवाद किसी उपाधि को स्वीकार नहीं करता है। जीवागोस्वामीपाद औपाधिक भेदाभेदवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि ब्रह्म में उपाधि सम्बन्ध स्वीकार कर जीव का जीवत्व मानेंगे, तो जीव के दोषों से ब्रह्म भी दूषित होगा और ब्रह्म के स्वरूप में, जो निर्दोष, निर्विकार और अशेष कल्याणगुणात्मक है, विरोध उत्पन्न होता है।[3]

---

1. भास्करभाष्य, 2/3/18, भास्कराचार्य, सम्पादक-विध्येश्वरी प्रसाद, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1914
2. उपरिवत्, 1/4/20
3. सर्वसंवादिनी, पृ. 129

4. स्वाभाविकभेदाभेदवाद और अचिन्त्यभेदाभेदवाद :

निम्बार्काचार्य जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक भेदाभेद मानते हैं। उनके मत में भेद औपाधिक नही, स्वाभाविक है। जीव और जगत् की ब्रह्म में स्वाभाविक स्थिति है। ब्रह्म कारण है, जीव-जगत् कार्य है। ब्रहा अंशी है और जीव-जगत् अंश है। कारण और कार्य परस्पर भिन्न और अभिन्न हैं। अंश अशी से भिन्न और अभिन्न है।[1] जैसे सूर्य और उसकी किरणें परस्पर भिन्न और अभिन्न हैं। उसी प्रकार ब्रह्म और जीव-जगत् अपने स्वभाव से ही परस्पर भिन्न और अभिन्न हैं। यह भिन्नताभिन्नता न केवल जीव की बद्धावस्था में रहती है, अपितु मुक्ति की अवस्था में भी है।[2]

स्वाभाविक भेदाभेदवाद अचिन्त्यभेदाभेदवाद के समान भेद को वास्तविक मानता है, औपाधिक नहीं मानता है। दोनों सिद्धान्त भेद और अभेद को समान रूप से स्थान देते है। किन्तु दोनों में वैभिन्य है। क्योकि स्वाभाविक भेदाभेदवाद कार्य-कारण सम्बन्ध और अंश-अंशी सम्बन्ध के आधार पर जीव-ब्रह्म में भेदाभेद तर्क द्वारा सिद्ध करता है। परन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवाद शक्ति-शक्तिमान् सम्बन्ध के आधार पर जीव-ब्रह्म में भेदाभेद की प्रतिष्ठा करता है। जीवगोस्वामीपाद निम्बार्काचार्य के कार्यकारण सम्बन्ध के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि कार्य और कारण दोनों भिन्न वस्तुएँ है। कारणत्व में कार्यत्व नहीं होता है और कार्यत्व में कारणत्व नहीं होता है। मृत्तिका से घट बनाते है, किन्तु मृत्तिका घट नहीं होती। आकार-विशिष्ट मृत्तिका ही घट होती है। कार्य-कारण का एकत्व है, घट के समान एक विशिष्ट कार्य को लेकर, न कि उन सभी वस्तुओं को लेकर जो मृत्तिका का कार्य हैं। यदि ऐसा होता, तो एक ही कारण के विभिन्न कार्यों में कोई भेद न रहता। कारण रूप मृत्तिका मिट्टी के विभिन्न प्रकार के बर्तनों की समष्टि से अभिन्न नहीं। यदि ऐसा होता, तो विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बर्तनों में कोई भेद न रहता।[3] कारण और कार्यपरस्पर भिन्न हैं। इस कार्यकारणसम्बन्ध के आधार पर भेदाभेद को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। स्वाभाविक भेदाभेद के विरुद्ध दूसरा महत्त्वपूर्ण आक्षेप यह है कि ब्रह्म और जीव-जगत् में स्वाभाविक अभेद के कारण जीव और जगत् के दोष भी स्वाभाविक रूप से ब्रह्म को आरोपित होते हैं और ब्रह्म के स्वरूप में, जो स्वभावत: निर्विकार और अनन्तगुण सम्पन्न है, विरोध उत्पन्न होता है। इसी

---

1. द फिलासफी ऑफ निम्बार्क, प्रो. मदनमोहन अग्रवाल, पृ. 96 आगरा, 1997
2. उपरिवत्, पृ. 98
3. सर्वसंवादिनी, पृ. 144-145

प्रकार जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक अभेद के कारण जीव में ब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमता का आरोप होता है, जो जीव के वास्तविक स्वरूप के विपरीत है।[1]

5. द्वैतवाद और अचिन्त्यभेदाभेदवाद -

द्वैतवाद मध्वाचार्य का सिद्धान्त है। इसके अनुसार ब्रह्म और जीव-जगत् में यथार्थ भेद है। यह भेद इनके नाम, रूप, गुण आदि में है। भेद के सामान्यतया तीन प्रकार हैं - (1) सजातीय (2) विजातीय और (3) स्वगत। इनमें से तृतीय स्वगत भेद को मध्वाचार्य स्वीकार नहीं करते हैं। सजातीय और विजातीय- इन दो भेदों के आधार पर ब्रह्म, जीव और जगत् इन तीनों में भेद का निरूपण करते हुए भेद के पाँच प्रकार करते हैं।

	जीव	ईश्वर	जगत्
1			
		2	3 4
	जीव	5	जगत्

इन पाँच भेदों को समग्रतः प्रपंच कहा है- 'प्रकृष्टः पंचविधो भेदः प्रपंचः।'[2] ब्रह्म और जीव में यथार्थ भेद मानते हुए उनमें सम्बन्ध की व्याख्या बिम्ब प्रतिबिम्बभाव के आधार पर की है।

इस प्रकार द्वैतवाद जीव और ब्रह्म में पूर्णतया भेद मानता है। अतः सिद्धान्त अचिन्त्यभेदाभेदवाद से पूर्णतया भिन्न है। क्योंकि अचिन्त्यभेदाभेदवाद भेद और अभेद दोनों को समान रूप से स्वीकार करता है। इसके अनुसार भेद और अभेद- दोनों सत्य और शाश्वत हैं। किन्तु द्वैतवाद में अभेद के लिए कोई स्थान नहीं है। भेद ही सत्य और शाश्वत है। द्वैतवाद की आलोचना करते हुए जीवगोस्वामी पाद कहते हैं कि यदि जीव और ब्रह्म में अत्यन्त भेद को मानेंगे, तो उनमें किसी भी प्रकार से ऐक्य असंभव होगा और ब्रह्मात्मभावोपदेश संभव नहीं होंगे। अतः सम्पूर्ण वेदान्त को ही छोड़ना पड़ेगा।[3] इसलिए द्वैतवाद दोषपूर्णमत है।

---

1. उपरिवत्, पृ. 33, 129
2. फिलासॅफी ऑफ श्री मध्वाचार्य, बी.एन.के. शर्मा, पृ. 93, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002
3. सर्वसंवादिनी, पृ. 33, 129

6. शुद्धाद्वैतवाद और अचिन्त्यभेदाभेदवाद : -

वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैतवाद है। शुद्धाद्वैत की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है।[1] प्रथम इसमें कर्मधारय समास मानकर इसका अर्थ किया जाता है "शुद्धम् अद्वैतम्" अर्थात् माया रहित एक अद्वितीय सत्स्वरूप ब्रह्म। पुनः षष्ठी तत्पुरुष समास मानकर इसका अर्थ किया जाता है- "शुद्धयोः अद्वैतम्" अर्थात् दो शुद्ध प्रमेयों का अद्वैत। शुद्ध से तात्पर्य माया सम्बन्ध से रहित होना है।[2] माया सम्बन्ध से रहित ब्रह्म अद्वैततत्त्व है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसका चिदंश जीव और सदंश जगत् है। इस प्रकार जीव और जगत् ब्रह्म का अंश हैं।[3] अंश होने के कारण जीवजगत् ब्रह्म से एकरुप हैं। वे आविर्भाव एवं तिरोभाव के रूप के उसके व्यापार के द्वारा जीव-जगत् के रूप में प्रतीत होते हैं। जीव-ब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध उसी प्रकार है, जिस प्रकार अग्नि एवं स्फुलिंग में है। जैसे स्फुलिंग अग्नि से अभिन्न है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न है। अविद्या के कारण जीव संसारी है। किन्तु विद्या के कारण अविद्या से मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। जीव की मुक्ति उसके तिरोभूत आनन्दांश की प्राप्ति है, ब्रह्म से एकरूपता नहीं है। ब्रह्म से अभिन्नता तो उसकी पहले से ही है। इस प्रकार ब्रह्म को पूर्ण तथा जीव को अंश मानते हुए भी वल्लभाचार्य ने दोनों को अपृथक् माना है।

इस प्रकार शुद्धाद्वैतवाद अचिन्त्यभेदाभेदवाद से पूर्णतया भिन्न सिद्धान्त है। क्योंकि शुद्धाद्वैतवाद पूर्णतया अभेद को मानता है। वहाँ भेद के लिए कोई स्थान नहीं है। किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवाद भेद और अभेद-दोनों को समान रूप से स्वीकार करता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि अचिन्त्यभेदाभेदवाद अन्य भेदाभेदसिद्धान्तों से भिन्न सुव्यवस्थित एवं सामंजस्यपूर्ण सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त "अचिन्त्य की तर्कातीत धारणा को प्रस्तुत कर भेद और अभेद की युगपत् स्थिति बनाने में और परमसत्ता को अविकृत एवं निर्लिप्त रखने में समर्थ हो जाता है। अतः अचिन्त्यभेदाभेदवाद के रूप में ब्रह्म और जीव - जगत् के सम्बन्धों का युक्ति पूर्ण विवेचन, अपूर्व है।

✦✦✦

---

1. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, 27, गिरिधर, सम्पादक-सत्यनारायण मिश्र, वाराणसी, शकाब्द, 1888
2. उपरिवत्, 28
3. अणुभाष्य, 2/3/43
   वल्लभाचार्य, सम्पदक - मूलचन्द तुलसीराम, दिल्ली, 2005

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

मानवता का संदेशवाहक तर्जनी काव्य

-मंगला ठाकुर
शोधछात्रा, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
नई दिल्ली

[अस्मिन् शोधपत्रे आधुनिकसमाजे व्याप्तानां समस्यानां चर्चा वर्तते तर्जनीकाव्येन कवेः विचारः कथं जनानामुपकारी भविष्यति एतत् सर्वं लेखिका प्रस्तुते पत्रे विवृतवती। -सं०]

सारांश- आधुनिक समाज मानवता खो देने के कारण चारों ओर अशान्त, अव्यवस्थित, पारस्परिक घृणा, द्वेष और अनैतिकता का शिकार हो चुका है। लोभ, ईर्ष्या, द्वेष मानवता को गर्त की ओर धकेल रहा है। भारतीय संस्कृति, प्राचीन सभ्यता एवं राष्ट्र की एकता और अखण्डता लुप्तप्राय होती जा रही है। अतः इस परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि एक राष्ट्र के लिए क्या निन्दा के योग्य है और क्या प्रशंसा के योग्य है। इन सभी बातों का "तर्जनी" के माध्यम से प्रकट किया जाना ही काव्य का मुख्य उद्देश्य है।

बीजशब्द-राष्ट्र, राष्ट्रीयता, मानवता, नैतिकता, सामाजिक कुरीतियां।

संस्कृति के धरोहर साहित्य के माध्यम से राष्ट्र के नागरिकों के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है और उन सांस्कृतिक मूल्यों को संवारने और उभारने के लिए कवि या साहित्यकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका पुरातन काल से लेकर अब तक चलती आ रही है। कविकर्म की उपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें संस्कृति के सत्पक्ष और रस की साधारणीकरण की प्रक्रिया पाठकों के चित को आप्लावित करने की कितनी क्षमता रखती है। काव्यमीमांसाकार का मानना है कि जिस प्रकार का स्वभाव कवि का होगा, उसी के अनुरूप उसका काव्य भी होगा।[1] साहित्यकार अपनी रचना के माध्यम से रस, गुण, अलङ्कार, छन्द, रीति आदि साहित्यिक विधाओं के आधार पर किसी भी राष्ट्र की सांस्कृति

1. यत्थवभावः कविथतदनुरूपं काव्यम्" राम जी उपाध्याय भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका" पृ. १

और समाज के सत्प्रतिपक्षों का समर्थन करते हुए उनकी उपादेयता का प्रतिपादन करता है। राष्ट्रीयता कवियों और रचनाकारों को राष्ट्र, जाति, और धर्म की रक्षा के लिए आंदोलन जगाने और राष्ट्र पर सर्वस्व समर्पण की भावना भरने वाली रचनाएं लिखने का प्रोत्साहन भी देती है। साहित्य राष्ट्र व मानव समाज की अमूल्य धरोहर है। साहित्यिक और सांस्कृतिक मूल्यों को उभारने और संवारने में कवि या साहित्यकार ही सिद्धहस्त होते है। राष्ट्र के प्रति अनुराग, बलिदान तथा राष्ट्रीयता के मूल्यों की समायोजन व्यवस्था को सशक्त बना कर देश को प्रगतिपथ पर आगे ले जाने की कल्पना हिमाचल के प्रसिद्ध साहित्यकार दुर्गादत्त शास्त्री महोदय के द्वारा "तर्जनी" काव्य में की गई है। कवि के द्वारा एकादशसर्गात्मक काव्य में प्रत्येक सर्ग का नियोजन भिन्न-भिन्न उपाख्यानों के अनुसार किया गया है परन्तु सबका एकमात्र उद्देश्य राष्ट्रीयता तथा समाज में फैली कुरूतियों आदि महत्त्वपूर्ण विषयों को काव्य के माध्यम से जनसाधारण तक पहुँचाना है। वेदों में भी राष्ट्र की परिकल्पना उपलब्ध होती है। हमारे ऋषिजनों के द्वारा यज्ञ में विभिन्न देवताओं को आहूतियां राष्ट्र प्राप्ति की कामना से दी जाती थी। इसे 'राष्ट्रप्राप्ति यज्ञ' के नाम से जाना जाता था और राष्ट्र की संरक्षता के नायक के मस्तक पर राष्ट्रतिलक करते समय भी वे अपने राष्ट्र लाभ की हार्दिक कामनाएं किया करते थे।[1] राष्ट्र से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग वैदिक साहित्य में अत्यधिक किया गया है। जैसे साम्राज्य, स्वराज्य, राज्य, महाराज्य इत्यादि। इन शब्दों में राष्ट्र शब्द ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वैदिक काल से ही जनमानस में राष्ट्रीयता की भावना पल्लवित होती आई है। राष्ट्र शब्द एक सुनिर्दिष्ट अर्थ और भावना का प्रतीक है। यजुवेद में राष्ट्र की कामना करते हुए सुन्दर शब्दों में कहा है "आ राष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्"।[2] अर्थात् प्राचीन काल से ही क्षत्रिय, वीर, धनुषधारी, लक्ष्यभेदी महारथियों की कामना की जाती थी। ताकि राष्ट्र धन धान्य दुग्ध आदि के संवर्धन में पिछडा ना रहे।[3] एक राष्ट्र की अपनी जनसंख्या, भू भाग, प्रभुसता, सभ्यता, सांस्कृति, भाषा, साहित्य, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीय एकता आदि समस्त तत्त्व हो तथा जिसकी समस्त प्रजा अपने राष्ट्र के प्रति आस्थावान हो। काव्यकार दुर्गादत्त शास्त्री

---

1. इमां देवा असपत्नं सुवध्यं महते क्षत्राय महते
   ज्येष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
   इममुष्य पुत्रमुष्यै पुत्रमस्यै विश एष
   वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।। (यजुवेद, ८/४०)
2. यजुर्वेद. २८.२२
3. अभिवर्धताम् पयसाभिः राष्ट्रेण वर्धताम्। अथर्ववेद ६.७८.२

द्वारा यहाँ सिद्धहस्तता का प्रदर्शन करते हुए मानवता का संदेश देते हुए स्वातन्त्र्योतर काल में समाज में फैली विषमताओं, मातृभूमि की सुरक्षा और राष्ट्रनिर्माण के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके मन में शंका उत्पन्न होती है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व मातृभूमि के प्रति जो अनुराग, बलिदान की भावना तथा निष्काम सेवा का व्रत देशवासियों में था क्या वह आज भी उसी रूप में सजीव है? क्या हम सामाजिक बुराईयों को छोड़ रहे हैं या वे हमें अधिकाधिक जकड़ती जा रही है? प्राचीन काल में तो भारत को विश्वगुरु माना जाता था, क्या आज भी हमारा आध्यात्मिक बल उतना ही बलवान है कि प्राचीन गुरूसिंहासन पर आरूढ हो सके? क्या देशवासी राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व को भली भाति निभा रहे हैं? भाषावाद, प्रान्तवाद तथा जातिवाद के भूत विघटन का बीज तो नहीं बो रहे है? क्या अस्पृश्यता के कलंक को समाज में धो दिया है? क्या अस्थि मांस के आधार पर किसी को अस्पृश्य कहना उचित है? अन्ततोगत्वा क्या मानव को मानवता के बिना संसार में जीवित रहने का अधिकार है? इन्हीं प्रश्नों की उपज ही यह "तर्जनी" नामक मौलिक संस्कृत काव्य है। हिमाचल के संस्कृत साहित्यकारों द्वारा विरचित महाकाव्यों का जब दृष्टिपात किया जाता है तो संस्कृत साहित्य की ही प्रेरणाओं का प्रतिबिम्बन इसमें उपलब्ध होता है। संस्कृत भाषा की गरिमा और सजीवता बनाए रखने के लिए यहां के कवियों ने विशेष रुप से उद्योग किया है। यहां के शान्तिप्रधान, सौन्दर्ययुक्त और श्रेष्ठ संस्कृति के द्योतक वातावरण ने इन काव्यों के प्रणयन में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। यहां के संस्कृत महाकाव्यों में वर्णाश्रम धर्म, तात्त्विक चिन्तन, कलात्मक परिप्रेक्ष्य, सामाजिक तथा सांस्कृतिक निरूपण, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, स्वतन्त्र भारत की विभिन्न व्यवस्थाओं का विवरण, प्राकृतिक चित्रण एवं राष्ट्रीय आदि विशेषताओं का मंजुलसामजस्य दृष्टिगोचर होता है। काव्यों के कथानक मुख्यतया ऐतिहासिक, राष्ट्रीयता से परिपूर्ण विभिन्न व्यवस्थाओं के परिचायक तथा लोक संस्कृतिपरक है। शास्त्री जी द्वारा विरचित काव्य समाज में फैली दहेजप्रथा, परिवारबाहुल्य, मद्यपान, भ्रष्टाचार और अस्पृश्यता आदि विषमताओं तथा राष्ट्रीयता को द्योतित करता हुआ मानवता का सांदेश दे रहा है। काव्य के प्रथम सर्ग 'त्वामहं सत्करिष्ये'And then, you are welcome में कवि ने पत्नी के पत्र के माध्यम से राष्ट्रभावना से जुडे पहलुओं तथा त्याग के उज्जवल उदाहरणों को दिखाने का प्रयास किया गया है। सैनिक की पत्नी युद्धभूमि में शहीद हाने पर स्वर्ग लोक में पति से मिलने की कामना करती है, लेकिन युद्धभूमि से पलायन उसे सह्य नहीं है। वह कल्पना करती है कि युद्ध भूमि में जाना उसके भाग्य में नहीं लिखा है अन्यथा टैंक में बैठकर वह भी

अपने पति की सहायता करती।[1] क्योंकि चीन ने स्वयं ही राष्ट्र संघ की मान्यताओं का उल्लंघन करके भारत के साथ विश्वासघात करके भारतीयों के हृदय को आहत किया है। सैनिक की पत्नी का मानना है कि मातृभूमि की रक्षा का दायित्व न केवल रक्षा विभाग और सैनिकों का है अपितु राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का होता है। एक राष्ट्र में जितना महत्त्व पुरुषों का है उतना ही स्त्रियों का भी माना गया है। वैदिक काल में भी स्त्रियों को पुरुषों के समतुल्य माना जाता था। अतः कवि ने इस काव्य में सैनिक की पत्नी के साहस का सुन्दर चित्रण चित्रित किया है। हिम्मत और साहस की इस तरह की भावना भारत में कृत्रिम रूप से पैदा नहीं हुई है अपितु उसके बीज हमारी संस्कृति में प्राचीन काल से ही पनपते आ रहे हैं। वैदिक काल में नारी अध्ययन अध्यापन से लेकर रणक्षेत्र में भी जाती थी। स्त्री और पुरुष दोनों को शासक चुने जाने का समान अधिकार था।[2] स्त्रियों की भी सेना हो। स्त्रियों को युद्ध में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करें।[3] रानी लक्ष्मीबाई जैसी वीराङ्नाओं के संस्कार हमारी संस्कृति में पहले से ही जुड़े मिलते हैं। शत्रुओं का संहार करने में वह सिद्धहस्त थी।[4] इसी भांति सैनिक की पत्नी भी युद्धभूमि में जाने मे असमर्थ अपनी वाकरूपी धारा के प्रवाह को बहाती हुई सैनिक को युद्धभूमि में डटे रहने की प्रेरणा दे रही है। उसका मानना है कि हमारी स्वाधीनता पहाड़ के समान अटल है और रहेगी तथा भविष्य में कोई भी शत्रु हमारी मातृभूमि पर दृष्टिपात् न करें।[5] पण्डित जवाहर लाल नेहरू के तहत चीन के साथ "पंचशील"[6] के आधार पर मैत्री कायम की थी परन्तु भारत पर आक्रमण कर चीन अपने ही वचनों से फिर गया। इस तरह के विश्वासघात से कवि का हृदय दुःखी होकर सैनिक की पत्नी की जुबानी बोल रहा है–"काचित्पत्रं लिखति रमणी युद्धभूमौ प्रयातंस्वं भर्तारं सुविपुलबलं भीमतुल्यं दधानम्। एतत्पत्रं लिखितमधुना वक्षसः शोणितेन भर्तारं दृष्ट्वा यदिह लिखितं पूणतां तन्नयस्व।।[7] शत्रु हिमालय पर बुरी दृष्टि ना डाले अतः राष्ट्र की गरिमा को बनाए रखने वाले भावों को व्यक्त करते हुए सैनिक की पत्नी कहती

---

1. नारीभाग्ये भवति पते युद्धभूमौ प्रयाणं, दुर्गादत शास्त्री, तर्जनी, १.१५, पृ.७
2. यजुर्वेद. २०.९
3. यजुवेद. १७.४५
4. लक्ष्मीबाई रिपुनविमथने सिद्धहस्ता प्रसिद्धा, पादंचिक्रे प्रथममिह सा मुक्तये मातृभूमेः। तर्जनी. १६, पृ.८
5. दुगादतशास्त्री. तर्जनी, १.१०४. पृ. ४७
6. हृदयनाथ कुंजरू, इण्डियाज फारन पालिसी एण्ड रिलेशनस, पृ. ११५
7. दुर्गादतशास्त्री, तर्जनी १.१ पृ. १

है- हत्वा शत्रूनपगतभयां मातृभूमिं कुरुष्व। भूमेः शत्रुः सपदि कुटिलो दंडनीयः स एवम्। कुर्याद् दृष्टि न स हिमगिरौ भूय एवं कदाचि-तृप्तां भूमिं स्वरिपुरुधिरेणाचिरादेव धेहि।[1] सैनिक की पत्नी कहती है कि अर्जुन के समान शस्त्रों से शत्रुओं का संहार कर शत्रुआं को जीत कर घर आएं, तो "त्वामहं सत्करिष्ये"। इसी कारण यह सर्ग इसी नाम से विख्यात है। स्वतन्त्रता के पश्चात् १९६२ में चीन देश वासियों ने 'हिन्दू चीनी भाई भाई' का नारा दिया परन्तु अपनी कूटनीति से भारत पर आक्रमण किया था। इस युद्ध में भारत की सेना पराजित हुई थी और वो राजनीतिक विफलता भी थी। कवि का मानना है कि ह्यूनत्सांग राजा हर्ष के काल में भारत आया था। उसने भारत में रहकर यहां की संस्कृति का अध्ययन किया और अन्त में उसे चीन ले गया।[2] जिन लोगों ने यहां से ले जाई गई दिव्य संस्कृति के आधार पर मानवता सीखी आज वही लोग हमें डरा रहें हैं।[3] हिमालय पर किसी भी प्रकार से शत्रु का अधिकार ना हो क्योंकि हिमालय की सब लोगों के द्वारा नम्रता के साथ अपने सर को झुकाते हुए पूजा की जाती है। सैनिक की पत्नी का मानना है कि जिस पर्वत की बर्फ से ढकी चोटियां आकाश में शोभा देती हैं, ऐसे उस हिमालय का चीन देश में रहने वाले नीच शत्रु स्पर्श भी न करें। हिमालय हमारे राष्ट्र का मस्तक तथा रक्षक है। 'मत्पश्चात् किं भविष्यति' यह काव्य का दूसरा सर्ग है। इसमें उस घटना को दिखाया गया है जब देश के रेलमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री थे और मद्यपान किए हुए एक व्यसनी के द्वारा वरुण और मेघदूत नामक एक्सप्रैस गाड़ियों की आपस में टक्कर होकर जानमाल का नुकसान हुआ। शास्त्री जी के मन में इस दुर्घटना से ग्लानि पैदा हो गई और हृदय को छू लेने वाले इस दृश्य से उनके मन को बहुत चोट पहुंची और इस पद से त्याग लेने का निर्णय कर त्यागपत्र सौम्यता के साथ जवाहर जी के हाथों में दे दिया। जवाहर जी बोले हे शास्त्रिन्! मैं आपके त्याग पत्र को स्वीकार नहीं करुंगा। यदि दुर्घटना हुई है तो इसमें आपका क्या दोष। शास्त्री जी का कहना था कि कारण चाहे कुछ भी रहा हो, दोष तो मेरा ही गिना जाएगा। सब लोग यही जानते हैं कि मैं रेलमन्त्री हूं और उनका ये भी मानना था कि जनापवादभीत्यैव रामस्तत्याज मैथिलीम्। वने गर्भवतीं साध्वीं निष्कलंकां तपस्विनीम्। मंत्रित्वं किमहं त्यक्तुं शक्नोमि न जवाहर। लोकनिन्दाभयादेवं जानाति सकलं भवान्।।[4] इस पर

---

1. दुर्गादतशास्त्री, तर्जनी १.४ पृ. ३
2. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, पृ. १०९
3. दुर्गादत शास्त्री, तर्जनी, १.४७, पृ. २१
4. दुर्गादत शास्त्री, तर्जनी, २.५२, पृ. ६२

जवाहर जी का यही कहना था कि शास्त्री जी आप धन्य हैं आपका यह त्याग जब तक सूर्य और चांद है भारत में तब तक याद किया जाएगा।[1] सत्यमुक्तं केचिद् वदन्ति मे पश्चाद् भारते किं भविष्यन्ति। अल्पज्ञास्ते न जानन्ति राष्ट्रं नो रत्नपूरितम्।[2] तृतीय सर्ग में दहेज प्रथा के अवगुणों और उसके कारण फैले असन्तोष का सुन्दर चित्रण किया गया है। "श्वश्रूः पात्राणि मार्जति" नामक सर्ग में दहेज की लोभी सास ने साधारण घर से सम्बन्धित गुणवती वधू को मृत्यु के घाट उतार कर अपने पुत्र की शादी दहेजयुक्त लड़की से करवा कर अपने पैरों पर खुद ही कुल्हाडी मार डाली। क्योंकि वह पहली वाली से बिल्कुल विपरीत आचरण करती थी। तब सास को अपनी पहली वाली गुणवती संस्कारी बहु की योग्यता की पहचान होती है परन्तु तब तो सास दहेज के लोभ में फंसी हुई थी, लेकिन जब उसे इस बात का एहसास हुआ तो तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इस तरह देखा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के उपरान्त भी हमारे समाज में दहेजप्रथा, जातिप्रथा, बालविवाह आदि कुप्रथायें आज भी प्रचलित है, जिसके कारण हमारा समाज कमजोर बनता जा रहा है। स्वभावतः इस तरह की कुप्रथायें ही हमारी राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और समृद्धि में बाधक बनती जा रही हैं और इस तरह की सामाजिक बुराइयों ने दुर्गादत्त शास्त्री जी को अपनी लेखनी चलाने के लिए मजबूर कर दिया क्योंकि उनका मन इन बुराईयों को देखकर क्षोभित और क्रोधित हुआ करता थ। नारी उत्पीडन देश की एक ज्वलन्त सामाजिक समस्या है। प्राचीनयुग में जहाँ नारी को देवीतुल्य समझा जाता था, वहीं आज नारी कभी दहेज के नाम पर तो कभी पुरुष की अहं की तृप्ति के लिए उनकी बर्बरता की शिकार हो रही है। आए दिन अखबार में नारी के प्रति दुराचार, अत्याचार, बलात्कार व दहेज के लिए जिंदा जला देने जैसे जघन्य अपराध सुर्खियों में दिखाई देते हैं। ये सामाजिक विषमताएं तथा उनसे उत्पन्न कुरीतियां तब तक दूर नहीं की जा सकती जब तक कि हम उनके मूल कारणों तक नहीं पहुंचते व देश में व्याप्त अशिक्षा, निर्धनता तथा बढ़ती जनसंख्या में नियन्त्रण नहीं कर लेते। चतुर्थ सर्ग "विघ्नं मा कुरू मा कुरू" में एक व्यक्ति द्वारा दुराचरण का आश्रय लेकर अपने घर को बर्बाद कर लिया जाता है। स्वयं ही दुःख पैदा कर घर को सूना कर दिया जाता है। पश्चाताप करने के पश्चात् उस पापी पति का मानना था कि उस पतिव्रता नारी को मरने के लिए मेरे द्वारा ही विवश कर दिया गया था, और वह चरित्रशील पत्नी उसे भाग्य से मिली थी और उसके द्वारा ही उसे नष्ट कर दिया गया। नशे का सेवन करने वाला व्यक्ति न केवल व्यक्तिगत रुप

1. दुर्गादत शास्त्री, तर्जनी, २.५९, पृ. ६३
2. दुर्गादत शास्त्री, तर्जनी, २.५९

से प्रभावित होता है बल्कि इससे पूरा परिवार तथा समाज प्रभावित होता है नशे को ही बर्बादी का घर कहा गया है। यह व्यक्ति की शारीरिक, सामाजिक और मानसिक तीनों स्थितियों को प्रभावित करता है। कवि का मानना है कि नशा घर का सूकून छीन लेता है और नशे में धूत इंसान अपना होशों हवास खो बैठता है, वह अपने रिश्ते नाते सब भूल कर हैवानियत का शिकार हो जाता है। उसे मां, बहन, बेटी में कोई फर्क नजर नहीं लगता। इस सर्ग में भी बेटी और पत्नी की जान के साथ नशे में धूत पिता द्वारा खेला जाता है। पति और बाप से परेशान पत्नी और बेटी के द्वारा आत्महत्या कर ली जाती है। इस तरह परिवारिक सम्बन्धों में हाने वाले परिवर्तनों को कवि द्वारा पंचम सर्ग में दर्शाया गया है। षष्ठ सर्ग में वर्तमान युग में विवाह के अवसर पर मद्यपान करने वालों और वहां पर घटने वाली घटनाओं का सटीक चित्रण किया गया है। इन दुर्व्यसनों के कारण भारत के उच्च आदर्शों वाली वैवाहिक संस्कृति में आए परिवर्तनों की ओर संकेत मिलता है। बुजुर्गों का मानना है कि "मदिरायाः प्रयोगो न भूतो भूते कदाचन। उत्सवेषु नववाहादेर् व्याधिरेषाऽऽगता कुतः" (६.१५) जैसे जैसे स्वाधीनता के वर्ष बीत रहे हैं, वैसे वैसे ये भारतवासी अपनी सभ्यता छोड़ रहें हैं। भारतवर्ष की सभ्यता इनको कभी क्षमा नहीं करेगी। "राष्ट्रीयतासुरक्षायां भवत्येषा (सभ्यता) सहायका। (६.२२) सप्तम सर्ग में अविवेकपूर्ण रुप से पैदा किए गए अधिक बच्चों के कारण बनीं विषम परिस्थितियां और दुष्परिणाम किसके दोष के कारण आए का चित्रण किया गया है। "नरकोऽयं समागतः" सर्ग में जब पत्नी अपने बारह (१२) बच्चों और पति से परेशान हो जाती है तो विवश होकर उसे अपने को तथा अपने साथ अपने तीन बच्चों को मारने का घिनौना कार्य करना पड़ा। अष्टम सर्ग में साक्षात् रिश्वत घूसखोरी आदि के परिणामों को इस सर्ग के तहत दिखाने का प्रयास किया गया है। जब मनुष्य में असन्तोष की प्रवृति आ जाती है तो वह कितना भी हासिल कर ले परन्तु उसकी और अधिक प्राप्त करने की लालसा कभी भी समाप्त नहीं होती। जब वस्तु उसे सहज प्रकार से प्राप्त नहीं होती तो वह येन केन प्रकारेण हासिल करने के लिए उद्यत हो जाता है। इस प्रकार की परिस्थितियां ही भ्रष्टाचार को जन्म देती हैं। भ्रष्टाचार के कारण ही कार्यालयों, दफ्तरों व अन्य कार्यक्षेत्रों में चोरबाजारी, रिश्वतखोरी आदि अनैतिक कृत्य पनपते हैं। देश में छोटे कर्मचारी से लेकर शीर्षस्थ पदों पर आसीन अधिकारी तथा देश के नेतागण सभी भ्रष्टाचार में लिप्त है। उनके असंतोष व स्वार्थ लोलुपता का कहीं अन्त ही दिखाई नहीं पड़ता। रिश्वत के इन दुष्परिणामों को इस प्रकार इस कथा में नियोजित किया गया है कि जिससे वह कर्मचारी इस पाप कर्म को पुनः करने से संभल जाता है। नवम सर्ग "अस्पृश्यः कोऽस्ति

संसारे?" में कवि द्वारा अछूत् शब्द, वर्ण भेद की, जाति व्यवस्था की शास्त्र सम्मत उल्लेख करते हुए सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उनका मानना है कि "जन्मना सकलाः शूद्रा ब्राह्मणाः गुणकर्मभिः। उत्तमाधमवर्णत्वं कर्मभिरेव भाव्यते।। (९.३२) वे कहते हैं जन्म के आधार पर जो लोग भेदभाव करते है, वे अज्ञानी होते हैं क्योंकि जन्मकाल में सब प्राणियों की इन्द्रियां समान होती है।[1] दशम सर्ग में अछूत शब्द का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इसमें हरिजन जाति की व्याख्या गांधी की विचारधारा के अनुसार की गई है। इसका निर्वचन हरि अर्थात् ईश्वर तथा उसका जन अर्थात् मानव रूप में किया गया है। और हरि ही सृष्टि की रचना, पालना और संहार करने वाला है।[2] जैसे समुद्र में जाकर नदियों का नाम मिट जाता है, इसी प्रकार हरि में सब धर्मों का नाम लीन हो जाता है।[3] अन्तिम "त्यागपत्र गृहाण मे" नामक एकादश अध्याय में मानवता से युक्त मनुष्य तथा उसके आदर्शयुक्त चरित्र को चित्रित किया गया है। व्यक्ति का कहना है कि यदि वह मानव मर्यादा में न रह कर राष्ट्र के विरूद्ध आचरण करता है तो ईश्वर उसका जीवन वापस ले ले। सारे राष्ट्र को ही अपना समझूं। मैं प्रान्तों का झगड़ा पैदा कर जीना नहीं चाहता हूं।[4] इससे मनुष्य की राष्ट्र के प्रति निष्ठा और निःस्वार्थ सेवाभाव द्योतित होती है। हमारे ऋषियों ने वेदों में मानव जीवन के विविध पहलुओं की पर्याप्त मीमांसा प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि मानव के केवल सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्षों का ही मूल्यांकन नहीं करती है, अपितु स्वदेश भक्ति, स्वदेश प्रेम किं वा राष्ट्रप्रेम के भावों को भी उजागर करती है। अपने देश, अपनी धरती को अर्थात् अपनी जन्मभूमि को माता मानने की भावना हमें सर्वप्रथम वेदों में ही उपलब्ध होती है।[5] इसी प्रकार अपनी जन्मभूमि को अपनी मातृभूमि कहकर सम्बोधित करने की शिक्षा भी हमें वेदों से ही मिलती है[6]। कई हजारों साल पुरानी भारतीय सभ्यता का समाज आज भी

1. दुर्गादतशास्त्री; तर्जनी ९.३४, पृ. २६२
2. दुर्गादतशास्त्री, तर्जनी १०.५, पृ. २८२ हरिणा रच्यते सृष्टिर्हरिणा पाल्यते तथा। हरिणा हियते चेयं हरिजनों भवाम्यहम्।।
3. सागरे सरितां गत्वा यथा संज्ञाऽपगच्छति।
   एवं सकलधर्माणां हरौ नाम निमज्जति।। दुर्गादतशास्त्री, तर्जनी, १०.४१
4. जानीयां सकलं राष्ट्रं स्वकीयमेव माधव।
   प्रान्तविवादमुत्पाद्य नाहं जीवितुमुत्सहे।। दुर्गादत्तशास्त्री, तर्जनी, ११.१४
5. तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः।
   तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना श्रृणुतं धिष्ण्या युवम्। ऋग्वेद, १.८९.४
6. इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
   सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।। अथर्ववेद, १२.१.१०

बहुत पुराना और जटिल प्रकृति का है। अपनी लम्बी ऐतिहासिक अवधि के दौरान, भारत बहुत से उतार चढ़ावों और अप्रवासियों के आगमन का गवाह है; जैसे आर्यों का आगमन, मुस्लिमों का आगमन आदि। ये लोग अपने साथ अपनी जातीय बहुरूपता और संस्कृति को लेकर आए साथ ही भारत की विविधता, समृद्धि व जीवन शक्ति में अपना योगदान दिया। भारत की इस विविधता ने एकसूत्रता को ही राष्ट्र का प्राण माना, अतः भारतीय समाज विविध संस्कृतियों, लोगों, विश्वासों, मान्यताओं का जटिल मिश्रण है जो कि इस देश का अभिन्न हिस्सा बन चुका है। रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और त्यौहार उत्सवों की विविधता के पीछे सांस्कृतिक समरसता का तत्त्व दृष्टिगोचर होता है। परन्तु आधुनिक समाज की परिस्थिति पूर्व की अपेक्षा विपरीत दिशा की ओर अग्रसर होती जा रही है। अतः शास्त्री जी द्वारा इस काव्य के माध्यम से एक स्वच्छ नागरिक के चरित्र निर्माण पर बल देते हुए मानवता का संदेश जनमानस तक पहुंचा कर अन्त में चरित्रवान नागरिक ही आदर्श राष्ट्र का निर्माण कर सकता है यह सिद्ध करने का प्रयास किया है। समाज में फैले विष को कवि ने अपनी लेखनी के माध्यम से समाज के समक्ष इन समस्याओं का वास्तविक एवं कुत्सित रूप प्रदर्शित करके इनसे बचने के लिए सावधान रहने की प्रेरणा देकर इन विषमताओं को जड़ सहित मिटाने का प्रयास किया है।

सन्दर्भग्रन्थसूची

1. अथर्ववेदसांहिता, संपादनम् एवं अनुवाद श्रीशचन्द्रवसुः, दिल्ली : मोतीलालबनारसीदासः, १९६२.
2. उपाध्यायः, रामजी, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांथकृतिक भूमिका. इलाहबाद-९ : लोकभारती प्रकाशन, १५ ए. महात्मा गांधी मार्ग, १९६६.
3. उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य और संस्कृति. वाराणसी : शारदा मांनदर, २९/१७ गणेश दीक्षित. १९६७.
4. ऋग्वेद संहिता, वा १,२,३,४ सम्पादन दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जिला बलसाड, ति.न.
5. थापर, रोमिला. भारत का इतिहास. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटिड, नेताजी सुभाष मार्ग. १९८९.
6. दीक्षित, हरिनारायण. संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रिय भावना. दिल्ली : ईस्टर्न बुक लिंकर्स, द्वितीय संस्करण, २००६.

7. शास्त्री, दुर्गादत. तर्जनी. होशियारपुर नलेटी, देहरा गोपीपुर, जिला कांगड़ा, हि.प्र., सं. २०१६.

8. शर्मा, केशवराम. हिमाचलप्रदेशे संस्कृतस्य प्रसारो-विकासश्च. शिमला: संस्कृत शोध संस्थान, भारती विहार, मशोबरा, १९८५.

9. शर्मा, ओमप्रकाश. संस्कृत साहित्य का हिमाचलप्रदेश को योगदान, दिल्ली: लक्ष्य साहित्य, २०१५

10. सेमवाल, पी.एन., पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के अतीत की झांकी, दिल्ली-७: सन्मार्ग प्रकाशन, १६-यू.बी., बैंग्लो रोड, १९८३.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

सीतारामशास्त्री प्रणीत सीतारावणसंवादझरी - एक सर्वेक्षण

-डॉ. वत्सला

व्याख्याता (संस्कृत), राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, झालावाड़- 321001

[अस्मिन् शोधपत्रे लेखिकया सीतारामशास्त्रिप्रणीतस्य सीतारावण-संवादझरीकाव्यस्य वैचित्र्यं प्रस्तुतम्। वैचित्र्यप्रधानमिदं काव्यम्। तद् वैचित्र्यं चित्रालङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यते। चित्रालङ्कारस्य समावेशः कथं कविना विहितः इति वर्णितः। -सं०]

प्रहेलिका प्रबन्ध काव्य 'सीतारावणसंवादझरी' के विश्लेषण के उपक्रम और उपसंहार से पूर्व 'प्रहेलिका' पर संक्षेप में प्रकाश डालना अति आवश्यक है। प्रहेलिका के विवेचन से 'सीतारावणसंवादझरी' का वैशिष्ट्य वैचित्र भलीभाँति प्रकाशित होगा।

संस्कृत साहित्य में आनन्द निष्यन्दनी कई विधाएँ युगों-युगों से अपने ज्ञान विज्ञान, काव्यत्व, वैचित्र्य, चमत्कार, अध्यात्म से सहृदय हृदयाह्लदक रही है। ऐसे ही वैचित्र्य, चमत्कृति और आनन्द का अजस्र स्रोत है शब्दालङ्कारों में अन्यतम 'चित्रालङ्कार[1]' और चित्रालङ्कार का एक विशिष्ट प्रकार है 'प्रहेलिका'।

'प्रहेलिका' का लक्षण प्रतिपादित करने से पूर्व 'चित्रालङ्कार' पर सूक्ष्म प्रकाश डालना समीचीन होगा। रमणीयता और विचित्रता ही चित्रालङ्कार की जननी है। चित्रकाव्य को चित्रालङ्कार का सर्वस्व नहीं माना जा सकता है। यद्यपि चित्ररचना अभ्यासार्थी मात्र का प्रवृत्ति विषय होने से उत्तम काव्य कोटि में नहीं आता है फिर भी प्रायः सभी कवि अपनी रचना में असाधारण वैशिष्ट्य के आधान हेतु कृतयत्न होते हैं। रस आदि से भिन्न अलङ्कार अधम काव्यत्व का

---

1. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम्। शब्दास्यालङ्कारा...॥
-वामनं काव्यालङ्कार-2/13

प्रयोजक माना गया है[1]। आचार्यो में इस चित्रालङ्कार के प्रति अनुराग नहीं होता है। फिर भी अक्षर के विन्यास की योजना (विशेषता) जो विस्मय को उत्पन्न करती है वही चित्त को अपनी ओर खींचती है।[2] इसीलिए **'चित्तं राति इति चित्रम्'** अर्थात् चित्र को अपनी ओर आकर्षित करने के कारण इसे चित्रालङ्कार कहते हैं। यह व्युत्पत्ति सर्वथा उपयुक्त है। इसीलिए अवर काव्य होने पर भी चित्रकाव्य विद्वानों को अत्यन्त ईप्सित है। यही कारण है कि कवियों ने चित्रालङ्कारों से युक्त विविध काव्यों की रचनायें की हैं और काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने मन्तव्य से अपने-अपने ग्रंथों में इसके लक्षण और भेदोपभेदों की बहुधा चर्चा की है।

प्रहेलिका का सामान्य लक्षण है- **'प्रहेलिका तु सा ज्ञेया वचः संवृतकारि यत्'**[3] अर्थात् जिसमें कुछ छिपाकर कहा जाय। इसका प्रख्यात नाम पहेली है जो अति प्रसिद्ध है। प्रहेलिका शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक अभिप्राय सूचनार्थक हिल् धातु से कन् तथा टाप् प्रत्यय लगाने ने बना है। **"प्रहिलति अभिप्रायं सूचयतीति- प्रहेलिका"** अर्थात् कूटार्थभाषित का कथन करने वाली रचना प्रहेलिका कहलाती है। **अमरकोषकार** ने प्रहेलिका के लिए 'प्रवल्का' तथा 'प्रहेलिका' दो शब्दों का प्रयोग किया है। लक्षणकारों ने भी इसी अर्थ की पुष्टि प्रायः की है:-

व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात्।
यत्र बाह्यान्तरावर्थौ कथ्येते सा प्रहेलिका।।[4]

किसी अर्थ को प्रकट करके स्वरूपार्थ को गोपन करने से जहाँ बाह्य तथा आभ्यन्तर अर्थ का कथन हो, वह प्रहेलिका है।

मित्रों में, सभा में अथवा गोष्ठी आदि मे मन्त्रणा आदि के लिए दूसरों को स्पष्ट ज्ञान न होने देने की भावना से ऐसी वचनावलि का प्रयोग मानव की जन्मजात प्रवृत्ति में रहा होगा। समाजिकता की सम्पृक्तता के साथ इस प्रवृत्ति का नामकरण हुआ और शनैः शनैः शास्त्रीय दृष्टि से इसके लक्षण निर्धारित किए गए।

---

1. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
   अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥
   - आनन्दवर्धन -ध्वन्यालोक- पृष्ठ संख्या 3/..
2. नीरसत्वेऽपि विदग्धानां महोत्सवः। -अग्नि पुराण- 343/32
3. काव्यादर्श- दण्डी- पृष्ठ संख्या-263
4. अमरकोष- मणिप्रभा हिन्दी टीका पृष्ट संख्या-58 के नीचे लिखित टिप्पणी से।

शब्दाह्वय ज्योति से भुवनत्रय को ज्योतिर्मय रखने वाले शब्दालङ्कारों में प्रहेलिका नामक अलङ्कार प्रभेद वैदिक मंत्रों की गोद में पलकर उत्तरवर्ती साहित्य में पल्लवित और पुष्पित हुआ। अलङ्कार की शास्त्रीय परम्परा का सूत्रपात महर्षि भरत के **'नाट्यशास्त्र'** से हुआ है। किन्तु इसमें प्रहेलिका का नामोल्लेख नहीं है। **'भामह'** हेय-यमक के सम्बन्ध में सूचना करने के व्याज से प्रहेलिका की चर्चा करते हैं।-

नाना धात्वर्थ- गम्भीरा यमक-व्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे।।[1]

ऐसा लक्षण भामह देते हैं किन्तु कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते हैं। वे लिखने हैं कि रामशर्मा के अच्युतोत्तर में इसके उदाहरण हैं। अच्युतोत्तर का तात्पर्य विष्णुधर्मोत्तरपुराण से माना गया है। **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के तीसरे काण्ड के 14वें अध्याय में शब्दालङ्कारों की चर्चा है। यह अध्याय मार्कण्डेय-वज्र-संवाद के रूप में अलङ्काराध्याय नाम से निर्दिष्ट है। सोलहवें अध्याय में प्रहेलिकाओं का लक्षण सहित विवेचन हुआ है। पुराणकार ने प्रहेलिका के बाईस भेद तथा लक्षण दिए हैं-

काव्ये येऽभिहिता दोषाः कैश्चिद् तेभ्यः प्रहेलिकाः।
कर्तव्याश्च तथैवान्यास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्।।[2]

श्लोकेनैकेन द्वाभ्यां वा कर्तव्यास्तु नरोत्तम।
न कर्त्तव्याश्च ता राजन्! बहुश्लोकनिबन्धना।।[3]

इस पुराण में उपलब्ध प्रहेलिका भेद व लक्षण के आधार पर ही अग्रवर्ती आंलकारिक आचार्यों ने परिवर्तन, परिवर्धन तथा संशोधन कर प्रहेलिका अलङ्कार का वितान किया है। आचार्य दण्डी शब्दालङ्कार सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक है। प्रहेलिका के वैविध्य पर **आचार्य दण्डी** का मन्तव्य उत्तम है:-

क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रेण।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः।।[4]

आचार्य दण्डी ने **'काव्यादर्श'** के तृतीय परिच्छेद में 16 प्रहेलिकाओं प्रकारों का विशद विवेचन किया है। **उद्भट** और **वामन** प्रहेलिकाओं का

---

1. काव्यालङ्कार- भामह-2/13
2. विष्णुधर्मोत्तर पुराण- 16/1
3. तत्रैव- 16/2
4. काव्यादर्श-दण्डी-3/97

उल्लेख तक नहीं करते हैं। **'रुद्रट'** प्रहेलिका का लक्षण करते हुए लिखते हैं:-

मात्रा बिन्दुच्यवनादन्यार्थत्वेन तच्च्युते नाम।
स्पष्टप्रच्छन्नार्था प्रहेलिकाव्याहृतार्था च॥[1]

रुद्रट प्रहेलिका के दो भेद करते हैं:-1- स्पष्टप्रच्छन्नार्था (जिसमें प्रश्न में ही उत्तर स्पष्टत: प्रच्छन्न हो) 2- अव्याहृतार्था (जहाँ अर्थ साक्षात् कथित न हों)।

'अग्नि पुराण' का 343वॉ अध्याय शब्दालङ्कार है। शब्दालङ्कार के नौ भेदों में आठवॉ भेद 'चित्र अलङ्कार है और चित्रालङ्कार के सात उपभेदों में दूसरा स्थान प्रहेलिका' को दिया गया है। **अग्नि पुराणकार** के अनुसार:-

गोष्ठयां कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते।
प्रश्नः प्रहेलिका गुप्तं च्युतदत्ते तथोभयम्॥
समस्या सप्त तद्भेदा नानार्थस्यानुगताः।[2]

सर्वप्रथम अग्निपुराण में प्रहेलिका के दो भेदों का प्रतिपादन किया गया है:-

द्वयोरप्यर्थयोर्गृह्यमानशब्दा प्रहेलिका।
सा द्विधार्थी च शाब्दी च तत्रार्थो चार्थबोधतः॥[3]

जिसमें दोनों अर्थो के वाचक शब्द गूढ़ होते हैं उसे प्रहेलिका कहा जाता है। अग्नि पुराण में प्रहेलिका को शाब्दी और आर्थी के रूप में दो भेदवाली तथा अन्य 6 उपभेदों में वर्णित की गयी है किन्तु नाम तथा उदाहरण नहीं दिए गए हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का निकटवर्ती होने से अग्निपुराण की उपभेद रूप प्रहेलिकाएँ अवश्य ही उसके 22 भेदों में छ: रही होगी।

श्री भोजदेव रचित **'सरस्वतीकण्ठाभरण'** अलङ्कारशास्त्र का प्रौढ़ ग्रन्थ है और अग्नि पुराण से पूर्णतया प्रभावित है। **'सरस्वतीकण्ठाभरणकार'** ने प्रहेलिका को **'बुझौवल'** कहा हैं। जिन भेद प्रभेदों की चर्चा अग्निपुराण में है उन्हें सर्वाधिक महत्त्व भोज ने ही दिया है किसी अन्य आचार्य ने नहीं। भोज ने 24 शब्दालङ्कारों का सोदाहरण विवेचन किया है। जिनमें प्रहेलिक स्वतन्त्र रूप से 18वें

---

1. रुद्रट-काव्यालङ्कार-4/25
2. अग्निपुराण- 343/22
3. अग्नि पुराण- 343/25

स्थान को प्राप्त है। भोज ने प्रहेलिका का लक्षण दण्डी से यथावत् ले लिया है।[1] जबकि इसके 6 भेद दण्डी से पूर्णतः पृथक् दिए हैं। उनमें च्युत चित्रालङ्कार के ही तीन भेद-1- च्युताक्षरा, 2- दत्राक्षरा, 3-च्युतदत्ताक्षरा है और अन्य तीन हैं-1- अक्षरमुष्टी 2- नामाक्षरमुष्टि 3- बिन्दुमती च्युताक्षरा और दत्ताक्षरा का प्रयोग **'सीतारामशास्त्री'** ने **'सीतारावणसंवादझरी'** में किया हैं।

विश्वनाय कविराज ने अपने **'साहित्यदर्पण'** में प्रहेलिका और च्युताक्षरादि को चित्रालङ्कार काव्यान्तर्गतभूत और रसपरिपन्थिनी कहा है:-

रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥[2]

प्रहेलिका का आविर्भाव तिरोभावात्मक अनुशीलन अर्थात् प्रहेलिका अलङ्कार का आविर्भाव विचारों की प्रारम्भिक जटिलता की स्थिति में उन्हीं विचारों के विश्लेषण से समाधान मिल जाने पर होता है। वाच्य वाचक विशिष्टता में गोपनीय प्रवृत्ति का समावेश उपस्थित करके विशेष बोध से वाच्यांश का प्रकाशन हो जाना ही प्रहेलिका का गुण है। प्रहेलिका और उसके भेदों का समाश्रयण कर सीतारामशास्त्री ने प्रबन्ध की रचना की है।

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारः- सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट स्त्रीरत्न सीता का चरित सहस्राब्दियों से नित्य नये कलेवरोन्मेष के साथ महाकवियों के रसपरिग्रहवती प्रतिभा से उन्मीलित किया जाता रहा है। प्रस्तुत ग्रंन्थ 'सीतारावणसंवादझरी भी अखिल ब्रह्माण्ड की आदर्शभूता सीता के पातिव्रत्य का आश्रयणकर विचित्र चित्र चातुरी से चमत्कृत संस्कृत साहित्यागार का विशिष्ट अद्वितीय अलङ्करण है। संस्कृत वाङ्मय में मुक्तक काव्य प्रकार के रूप में प्रहेलिका प्रकारों च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा, प्रतिदत्ताक्षरा का उल्लेख बहुत से ग्रंथों में दिखायी देता है किन्तु प्रहेलिका की विच्छित्रि से विलसित तथा प्रहेलिका प्रकारों को लेकर इदम्प्रथमतया प्रणीत प्रबन्ध काव्य' 'सीतारावणसंवादझरी' है।

प्रहेलिका पद्धति से प्रबन्ध काव्य की व्यापकता **'सीतारावणसंवादझरी' नामक तीन कृतियों में दिखलायी पड़ती है।** प्रथमकृति मैसूर राज्य के श्री

---

1. प्रहेलिका सकृत्प्रश्नः साऽपि षोढा च्युतक्षरा।
   दत्ताक्षरोभयं मष्टिर्बिन्दुमत्यर्थवत्यपि॥
   क्रीड़ागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
   परव्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका॥ भोजदेव-सरस्वतीकण्ठाभरण-2/133-134
2. विश्वनाथ साहित्यदर्पण-10/13

चामराजनगर के श्री राम शास्त्री प्रणीत 'सीतारावणसेवादझरी' का पूर्वभाग है। द्वितीय कृति भी मैसूर राज्य के श्री सीतारामशास्त्री प्रणीत 'सीतारावणसंवादझरी' का उत्तरभाग है। पूर्वभाग का प्रकाशन 1905 में मैसूर राज्य के कोषागार से किया गया था तथा उत्तरभाग का प्रकाशन 1919 में मैसूर राज्य के कोषागार से किया गया है। तृतीय कृति आन्ध्र प्रदेश के श्री बच्चु सुब्बाराय कृत अभिनव सीतारावणसंवादझरी है। तीनों ही कृतियों में वाल्मीकि के द्वारा वर्णित सीतारावणसंवाद का प्रसंग ही प्रबन्ध का मुख्य विषय है। प्रहेलिका की सरणि का अनुसरण करके सर्वप्रथम प्रबन्ध काव्य की रचना कर्णाटक प्रदेश से आरम्भ हुई। यह प्रहेलिका प्रबन्ध भारत के दक्षिण भाग (मैसूर, कर्णाटक) में तो उपलब्ध होता है। लेकिन भारत के अन्य भागों में यह गंथ अप्राप्य रहा है। संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

'सीतारावणसंवादझरी' प्रहेलिका प्रबन्ध के उत्तरभाग के रचयिता पंडित श्री सीतारामशास्त्री प्रथम प्रहेलिका प्रबन्धकार श्री चामराजनगर रामशास्त्री के शिष्य थे अपने गुरु के संकल्प की पूर्ति के लिए उसी प्रकार के प्रहेलिका चमत्कार सम्पन्न तथा अर्थ पुष्टिपुत सीतारावणसंवाद से युक्त पचास पद्यों की रचना 1906 में की थी। इन्होंने अपनी कृति को गुरुविरचित 'सीतारावणसंवादझरी' के उत्तरभाग के रूप में संयुक्त किया।[1]

तृतीय 'अभिनव सीतारावणसंवादझरी' की रचना भी श्री चामराजनगर रामशास्त्री के संकल्प की पूर्ति के लिए श्री बच्चु सुब्बराय गुप्त ने की। अपने ग्रंथ की समाप्ति पर उन्होंने ग्रंथ रचना की प्रवृत्ति के विषय में निर्दिष्ट किया है।[2]

सीतारामशास्त्री ने साहित्यशास्त्र का ज्ञान श्री चामराजनगर रामशास्त्री से प्राप्त किया था।[3] सीतारामशास्त्री मैसूर राज्य के सभा पंडित थे। संस्कृत साहित्य

---

1. यद् गूढार्थयुतान् शतं रचायितुं श्लोकान् स्वसङ्कल्पितान्
   शक्तोऽप्यत्र भवान् स्वविश्रामभिषादर्धं परार्थं जहौ।
   युक्तं तस्य विमत्सरस्य हि परप्रोत्साहनशीलस्य तद्
   धन्यास्स्यां भुवने कथं न्वहमिह प्राप्तवकाशो न चेत्॥
   -सीतारावणसंवादझरी आचार्य रमेश चतुर्वेदी- पृष्ठ संख्या-45
2. पूरित मयेदानीं प्रतिज्ञा रामशास्त्रिणः।
   शतार्द्धश्लोकसयुंता कृतिरियं भूयान्मुदे सताम्॥
   -सीतारावणसंवादझरी- आचार्य रमेश चतुर्वेदी- पृष्ठ संख्या- 09
3. यत्सेवया मे परमां साहित्यज्ञानसम्पदमदात्रम।
   वन्दे सीतारावणसंवादझरी यशोझरीललितम्॥
   - सीतारावणसंवादझरी- आचार्य रमेश चतुर्वेदी - पृष्ठ संख्या-43

रूपी सागर में पारङ्गत होने के साथ ही ये कन्नड़ भाषा के भी पारङ्गत विद्वान थे। दोनों ही भाषाओं में इन्होंने अपनी प्रतिभा को प्रकट किया है।[1] ये वैष्णव भक्त थे। इनका जन्म कर्णाटक प्रदेश की राजधानी मैसूर नाम नगर में हारित नामक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता श्री रामभट्ट 'गुण्डावधानी' इस नाम से विख्यात थे। इनकी माता का नाम पार्वती था। ग्रन्थकार ने ग्रन्थं में उल्लेख किया है:-

'यस्य श्रीरामभट्टो हरितकुलपयोराशिराकासुंधाशु
ख्यातो गुण्डावधानीत्यपि विबुधकुलोत्तं सकस्तात आसीत्।
मातापार्वत्यभिख्या महितकुलवधूसन्निधौ कीर्तनीया
सीतारामस्य सीतारमणकरुणया वागियं तस्य जीयात्॥[2]'

मैसूर राज्य के शासक श्री कृष्णराज ने कविवर श्री सीतारामशास्त्री को राज्यसभा के पण्डित पद पर सम्मानित किया था। कविवर वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे ऐसा ग्रन्थ के आरम्भ में प्रस्तुत मंगलाचरण के पद तथा ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशित क्षमा प्रार्थना से सुस्पष्ट ज्ञात होता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कविवर ने लिङ्ग वचन श्लेष के चमत्कृति से युक्त अपने ईष्टदेव का स्मरण किया है।[3] भगवान सीताराम के प्रति श्री सीतारामशास्त्री के हृदय में विशिष्ट भक्तिभव विराजमान था। इस ग्रंथ में रावण वचन विन्यास के रूप में निरूपित राम निन्दा को अपराध रूप मानते हुए कवि ने विनयपूर्वक अपने इष्टदेव सीताराम से क्षमा याचना की है तथा ग्रन्थ के समापन में भी श्री राम का स्मरण

---

1. आस्वाद्याऽत्र चमत्कृतिर्ममकृतौ या क्वापि वर्तेत चेत्,
   सर्वां तद्वदनारविन्दगलितां तां भावयेऽहं हृदि।
   मां प्रीत्या सुकवित्ववर्त्मनि चिरं संचारयन् संस्कृते,
   कर्णाटकेऽपि स हि प्रबन्धरचनाप्रावीण्यं भाजं व्यधात्॥
   – सीतारावणसंवादझरी– आचार्य रमेश चतुर्वेदी– पृष्ठ संख्या 44
2. सीतारावणसंवादझरी– आचार्य रमेश चतुर्वेदी– पृष्ठ संख्या–44
3. कल्याणं दुहती सदा प्रणमतां हृइञ्जनं कुर्वती
   संस्मृत्या पुनती जगन्मुनिमनस्सिंहासने भास्वती।
   भव्यज्ञानविवर्धिनी बहुविधक्लेशौधविध्वंसिनी
   सीतारामपदाम्बुजे कलयतां श्रेयांसि नः॥
   – सीतारावणसंवादझरी– आचार्य रमेश चतुर्वेदी– पृष्ठ संख्या–44

किया है।[1] ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के उत्तरभाग के रचनाकाल को इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है:-

'साष्टेपञ्चसहस्त्रेषु कल्यब्देषु गतेष्विह
प्लवङ्गाब्दे ज्येष्टकृष्णाद्वितीया गुरुवासरे।
सीतारावणसंवादझर्या भागोऽयमुत्तरः
प्रसादाज्जानकीजानेरगमत्परिपूर्णताम्'।।[2]

'सीतारावणसंवादझरी' इस ग्रन्थ का प्रकाशन परिमल प्रकाशन, दिल्ली से 2012 में आचार्य रमेश चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में हुआ है। इस संस्करण में रमेश चतुर्वेदी ने रामशास्त्री तथा सीतारामशास्त्री उभय प्रणीत 'सीतारावणसंवादझरी' प्रहेलिका पथ शती को हिन्दी व संस्कृत व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है।

ग्रन्थ का स्वरूप और कथानकः- 73 पद्यों में प्रबन्ध काव्य के उत्तरभाग की रचना कवि ने की थी। जिनमें से 50 पद्यों में प्रहेलिका चमत्कार से सम्पन्न निगूढ अर्थो से युक्त सीतारावणसंवाद वर्णित है तथा अन्य पद्यों में ग्रन्थ रचना की प्रवृत्ति आदि विषय निरूपित है। यद्यपि कथानक के निबन्धन में कवि ने गुरु द्वारा विरचित सीतारावणसंवादझरी कृति के पूर्वोत्तर पीठिका को ही अपने कृति के पूर्वोत्तर पीठिका के रूप में स्वीकार किया है फिर भी सीतारावणसंवाद प्रकाशन के पहले कविवर ने कथा प्रसङ्ग के रूप में रामायण के वृत्त को संक्षेप में एक पद्य में प्रस्तुत किया है:-

'श्रीरामे दूयमाने स्वयुवतिविरहाल्लब्धसुग्रीवसख्ये
एष श्रीमान् हनुमान् झटिति जलधिमुत्तीर्य लङ्कां प्रविश्य।
दृष्ट्वोद्यानेऽथ सीतां सुचरितमहितां रावणस्यापि तस्याः
श्रुत्वा संवादमेतं सपदि सविनयो राममेत्याबभाषे।।[3]'

उपर्युक्त पद्य के पश्चात् प्रहेलिका चमत्कार से युक्त पचास पद्यों में हनुमान द्वारा कहे गये सीतारावणसंवाद को राम के समक्ष कहकर कविवर ने पुन एक पद्य में लङ्का विजय के प्रयाण आदि का रामचरित संक्षेप में निर्दिष्ट किया

---

1. साकेतसमुद्रमूरधिवसन् योगीन्द्रहृन्नन्दनं
   पूर्णः कान्ति सुभैश्शिश्रीतावनफलास्त्रय्यालवालाञ्चितः।
   सत्कारुण्यरसोज्जवलो जनकजाच्छायाभिरामोऽनिशं
   श्रीमान् दाशरथिः प्रकल्पयतु नः काल्याणपारम्परीम्॥
   - सीतारावणसंवादझरी- आचार्य रमेश चतुर्वेदी- पृष्ठ संख्या-45
2. सीतारावणसंवादझरी- आचार्य रमेश चतुर्वेदी- पृष्ठ संख्या-46
3. तत्रैव- पृष्ठ संख्या-47

है:-

'श्रुत्वा वादमिमं समीरजमुखाद्रामः क्रुधा रावणे
सुग्रीवप्रमुखैः प्रयाय जलधौ निर्माप्य सेतुं शुभम्।
लङ्कामेत्य निहत्य रावणमुखांतस्तां प्राप्य सीतां स्तुताम्
साकेतं समुपेत्य सोदरयुतः पृथ्वीं चिरादन्वशात्॥'[1]

ग्रन्थ के प्रतिपाद्य सीतारावणसंवाद को विस्तारपूर्वक और अन्य रामायणीय कथा को दो पद्यों में संक्षेप में प्रस्तुत करके कविवर ने संवाद के प्रसंग में रावण की उक्ति में रामनिन्दा रूप वाक्य विन्यास को पाप रूप मानते हुए राम से क्षमायाचना की हैं और ग्रंथ के पूर्ण होने का निर्देश करके काव्य सूचना के क्लेश को प्रकाशित किया है।[2] ग्रन्थ की रचना में कवि ने छः छन्दों का प्रयोग किया है। परन्तु अपने गुरु के संकल्प की पूर्ति के लिए ग्रन्थ के उत्तरभाग में कवि ने शार्दूलविक्रीडित छन्द का सर्वाधिक प्रयोग किया है। कवि का अतिशय प्रयुक्त छन्द शिखरिणी है। इसका प्रयोग ग्रन्थ में 15 बार किया है। स्रग्धरा का प्रयोग 11 बार किया है। अनुष्टुप् वृत्त पाँच पद्यों में प्रयुक्त है। दो पद्यों की निर्मिती आर्या वृत्त में है। मालिनी छन्द का प्रयोग एकबार किया है।

सीतारावणसंवाद पद्यों का वैशिष्ट्यः- श्री सीतारामशास्त्री ने प्रहेलिकामय सीतारावणसंवाद की प्रस्तुति के प्रसंग में एक विशिष्ट चमत्कार का सन्निवेश किया है जो अन्यत्र प्रहेलिका साहित्य में अप्राप्य है। चमत्कारधान हेतु कवि ने विशिष्ट शब्द योजना की है। रावण द्वारा कथित शब्दावली में प्रयुक्त वर्ण विशेष के लोप के कारण या वर्ण विशेष स्थापना के कारण अथवा वर्ण विशेष के स्थान पर दूसरे वर्ण के प्रयोग से उन शब्दावलियों का विपरीत अर्थ उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण उन शब्दावलियों से सीता के अभिप्रेत राम की प्रशंसा और रावण की निन्दा, रावण के वाक्य से ही प्रतिपादित हो जाती है। पद्यों की संरचना में कविवर ने अपने गुरु के द्वारा प्रदर्शित सरणि का ही अनुसरण करते हुए निगूढ अर्थ से युक्त सीतारावणसंवाद युक्त 22 पद्यों च्याविताक्षर प्रहेलिका चमत्कार को, 26 पद्यों में प्रतिदत्ताक्षर प्रहेलिका चमत्कार को तथा, दो पद्यों में दत्ताक्षर प्रहेलिका चमत्कार को प्रकाशित किया है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने सीतारावणसंवादझरी के

---

1. तत्रैव- पृष्ठ संख्या-47
2. ईदृग्दुष्करचित्रबन्धरचनाक्लेशं विजानाम्यहं
   सर्वज्ञो भगवान् स वेत्ति स च मे साहित्यविद्यागुरुः।
   चित्रेनावहितेन मे कृतिमिमां दृष्ट्वा रसास्वादनात्
   संतुष्टा रसिका बुधा अपि विदुर्जानीयुरन्ये कथम्॥ तत्रैव- पृष्ठ संख्या-47

उत्तरभाग में प्रहेलिका के च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा तथा प्रतिदत्ताक्षरा संज्ञक तीन प्रकारों का प्रयोग किया है।

च्युताक्षरा के प्रयोग में वैशिष्ट्यः- श्री सीतारामशास्त्री ने सीतारावणसंवादझरी के उत्तरभाग में निगूढार्थ सम्पन्न पौलस्त्य जानकी संवाद को प्रस्तुत करने के लिए 22 पद्यों में च्युताक्षरा प्रहेलिका के चमत्कार को विविध रूप में प्रस्तुत किया है। कई पद्य व्यञ्जना च्युति चमत्कार से युक्त है। चार पद्यों में 'प्र' एवं 'सम' इन दो उपसर्गो के द्वारा चमत्कार को दर्शाया है।

च्युताक्षरा का लक्षणः-

कस्मिंश्चिच्च्यावि‌ते वर्णे यत्रार्थोऽन्यः प्रतीयते।
चित्रं तदेव विज्ञेयं च्याविताक्षरनामकम्॥[1]

किसी वर्ण के च्युत किए जाने पर (किसी वर्ण के हटाने से) जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीत होती है उसको च्याविताक्षर नामक चित्रालङ्कार जानना चाहिए।

च्युताक्षरा का उदाहरणः- वर्ण चित्र रचना के कुशल प्रयोक्ता कवि ने उपसर्ग के लोप से युक्त रावण सीता की उक्ति प्रत्युक्ति को निम्नपद्य में दर्शाया है:-

'हे सीते मतिसंभ्रमो मम यथा कार्येषु पत्युर्न ते
सर्वत्रापि निजोद्यमेषु स खलु ख्यातो महासंशयः।
किंचाख्यान्ति तमत्र दुष्टजनसंधाते निबद्धादरम्
क्रव्यादाधम किं नु वा प्रलप नो सम्प्रीतिरत्रस्ति मे॥[2]'

सीता के निर्देशानुसार रावण के द्वारा तीन बार उक्त 'सम्' उपसर्ग वर्ण का लोप करने पर पदावली इस प्रकार हो जाती है:-

हे सीते मतिभ्रमो मन यथा कार्येषु पर्त्युन ते
सर्वत्रापि निजोद्यमेषु स खलु ख्यातो महाऽऽशयः।
किंचाख्यान्ति तमत्र दुष्टजनद्योत निबद्धादरम्॥

रावण ने सीता से स्वप्रशंसा करते हुए कहा- हे सीते! जिस प्रकार मैं स्वकर्तव्यों में मति संभ्रम (शीघ्र निश्चय) करता हूँ वैसे राम नहीं करता है। वह अत्यधिक संशयवान निश्चित रूप से विख्यात है तथा लोग उसे दुष्टजनों के संघात (समुदाय) में लगाव रखने वाला बताते हैं।

---

1. सीतारावणसंवादझरी- राजारामशुक्ल- पृष्ठ संख्या-18
2. सीतारावणसंवादझरी- आचार्य रमेश चतुर्वेदी- पृष्ठ संख्या- 112/60

सीता ने उत्तर दिया है राक्षसाधम! तू जो चाहे वह सब बोल मुझे तेरे कथन में सम्प्रीति (लगाव) नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में सम उपसर्ग से युक्त सीता के वचन में निगूढ़ अर्थ विद्यमान है। सीता कहती है हे राक्षसाधम! तू सम वर्ण का परित्याग कर बोल। सम वर्ण का लोप करने पर रावण के द्वारा कहे गये अपने गुणों को प्रकट करने वाले वाक्य इस प्रकार परिवर्तित हो जाते हैं:-

हे सीते! जैसे मुझे स्वकर्तव्यों से मतिभ्रम (भ्रान्ति) हो जाती है उस प्रकार राम को नहीं। वह राम लोक में महाशय (उदारमना) विख्यात है तथा लोग उसे दुष्टजनों के घात (हनन) करने में श्रद्धावान् बताते हैं।

प्रतिदत्ताक्षरा के प्रयोग में वैशिष्ट्य- कवि ने प्रतिदत्ताक्षरा नामक प्रहेलिका प्रकार का सर्वाधिक निदर्शन प्रस्तुत करते हुए उसकी विविध विच्छित्ति को प्रकाशित किया है। इस प्रबन्ध में निगूढार्थ सम्पन्न पौलस्त्य जानकी संवाद को उपस्थित करते हुए कविवर ने 26 पद्यों में प्रतिदत्ताक्षरा का प्रयोग किया है। राम की निन्दा परक तथा रावण के आत्मप्रशंसापरक वचनों में सीता के निगूढ संकेत के अनुसार रावण के वचन से वर्ण विशेष के हटाने पर उस वर्ण के स्थान पर सीता निर्दिष्ट वर्ण स्थापित करने पर राम निन्दा के स्थान पर राम प्रशंसा ज्ञात होती है उसी प्रकार रावण प्रंशसा के स्थान पर उसकी निन्दा ज्ञात होती है। इस प्रकार विपरीत अर्थ प्रतिपादन रूप चमत्कार वर्ण प्रतिदान रखने से ज्ञात होता है।

प्रतिदत्ताक्षर का लक्षणः-

च्यावितस्यास्पदेऽन्येन प्रतिदत्तेन केनाचित्।
प्रतीयतेऽन्यो यत्रार्थः प्रतिदत्ताक्षरं हि तत्॥[1]

च्युत किए गए (हटाए गए) अक्षर के स्थान पर किसी अन्य के द्वारा दिए अक्षर से जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसको प्रतिदत्ताक्षर नामक चित्रालङ्कार जानन चाहिए।

प्रतिदत्ताक्षरा का उदाहरणः- वर्णचित्र रचना के निपुण सीतारामशास्त्री ने स्वरव्यञ्जन प्रतिदान से युक्त संवाद को निम्न पद्य में दर्शाया है:-

'सपक्षं मां चित्ते कलय ननु राकेन्दुवदने
दृशा पश्यत्वं मां सपदि दृढकामं सदयया।
मदीयं व्याहारं कुरु निखिलमप्यद्य सफलं
जनस्याश्रव्यं ते वच इह सतो विप्रियमरे॥[2]'

---

1. सीतारावणसंवादझरी- राजारामशुक्ल- पृष्ठ संख्या-20
2. सीतारावणसंवादझरी- आचार्य रमेश चतुर्वेदी- पृष्ठ संख्या-123/66

सीता के निर्देशानुसार 'स' के स्थान पर 'वि' का प्रयोग करने पर रावण द्वारा गयी पदावली इस प्रकार हो जाती है:-

विपक्षं मां चित्ते कलय ननु राकेन्दुवदने
दृशा पश्य त्वं मां विपदि दृढकामं विदयया।।
मदीयं व्याहारं कुरु निखिलमप्यद्य विफलम्।

रावण ने सीता से कहा- हे पूर्णचन्द्रमुखि! मुझे अपने अनुकूल जान। अपने प्रति दृढाभिलाषी मुझे शीघ्र ही दयापूर्ण दृष्टि से देख। मेरी सम्पूर्ण प्रार्थना को अब शीघ्र ही सफल कर दे। सीता ने उत्तर दिया रे नीच! तेरा यह अश्रोतव्य वचन सतो विप्रिय अर्थात् सज्जनों को अनभिमत है। सीता को इस प्रत्युक्ति का निगूढार्थ है कि तेरी उक्ति में 'सकार' के स्थान पर 'वि' वर्ण का प्रयोग मुझे अभीष्ट है सीता के इस निगूढ निर्देशानुसार 'स' के स्थान पर 'वि' का प्रयोग करने पर परिवर्तित स्वरूप पदावली निम्न अर्थ का बोध कराती है:-

हे चन्द्रमुखी! मुझ रावण को अपना विपक्ष (अहितकारक) समझ। तू विपत्ति में दृढ़ानुरागी मुझ रावण को दयारहित दृष्टि से देख अर्थात् अत्यन्त विपदग्रस्त मेरी इन सभी प्रार्थनाओं को तू विफल (व्यर्थ) बना दे अर्थात् कुपित होकर मेरा तिरस्कार कर।

अधिदत्ताक्षरा के प्रयोग में वैशिष्ट्य- सीतारामशास्त्री ने दो पद्यों में अधिदत्ताक्षर चित्रालङ्कार के चमत्कार को दर्शाया है। त्रिपाद के आरम्भ में विशिष्ट पदों को प्रयुक्त किया है। पद के आरम्भ में वर्ण अथवा विवर्ण के संयोजन से स्वप्रंशसापरक रावण का कथन निन्दापरक तथा राम के निन्दापरक वाक्य प्रशंसापरक हो जाते हैं।

अधिदत्ताक्षर का लक्षण:-

कस्मिंश्चिदधिके वर्णे दत्तेऽर्थो यत्र भिद्यते।
अधिदत्ताक्षरं नाम चित्रं तदिति बुद्धयताम्।।[1]

किसी वर्ण के अधिक होने पर जहाँ दिया हुआ अर्थ भिन्न प्रतीत होता है उसको अधिदत्ताक्षर नामक चित्रालङ्कार जानना चाहिए।

अधिदत्ताक्षरा का उदाहरण- वर्ण चित्र रचना में दक्ष कविवर्य ने स्वर व्यञ्जन प्रतिदान चमत्कार से युक्त सीतारावण की उक्ति प्रत्युक्ति को निम्न पद्य में दर्शाया है:-

---

1. सीतारावणसंवादझरी- राजाराम शुक्ल- पृष्ठ संख्या-31

'चारानप्यात्मनीनान् परमकुशलधीरेष नैवाभिकांक्षेत्
पत्तिव्यूहैः पुरोगैर्जनकनृपसुते किं नु साहाय्यमस्य।
रंभातिप्रीतिकारिव्यहह परिलसत्येतदीयाऽकृतिश्रीः
सम्यग्विज्ञायतेऽदो वचनमनुपदं ते मुखाकारतो हि॥[1]'

सीता के निर्देश का अनुसरण करके रावण की उक्ति इस प्रकार परिवर्तित हो जाती है:-

आचारानप्यात्मनीनान् परमकुशलधीरेष नैवाभिकाङ्क्षेत्
आपत्तिव्यूहैः पुरोगैर्जनकनृपसुते किं नु साहाय्यमस्य।
आरम्भातिप्रीति कारिण्यहह परिलसत्येतटीया कृतिश्रीः॥

रावण ने सीता से कहा- हे जानकि! अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि वाला यह रावण अपने हितकारी गुप्तचरों (चारों) की सहायता आकांक्षा नहीं करता है। इसे अपने आगे-आगे चलने वाले पदाति सैनिकों के समूह की सहायता की क्या अपेक्षा है? अर्थात् स्वयं शूरवीर यह रावण अकेला ही युद्ध जीत सकता है। इसकी विशिष्ट आकृति शोभा रम्भा के मन को भी लुभाने वाली है। यह सुनकर सीता ने उत्तर दिया- अरे दुष्ट! तेरे द्वारा भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रस्तुत तेरी ये विशेषताएँ तो तेरी मुखाकृति को देखने से ही ज्ञान हो जाती है। अपने गुणगण को बताने के लिए क्यों व्यर्थ ही बोल रहा है। सीता की इस प्रत्युक्ति में आये 'मुखाकार' शब्द का एक अन्य अर्थ प्रारम्भ में आये 'आ' वर्ण का प्रयोग ज्ञात होता है अर्थात् रे दुष्ट! तेरी इस त्रिपादात्मक उक्ति के प्रत्येक पाद के आरम्भ में (मुख) में आकार- 'आ' वर्ण की स्थापना से तेरे वास्तविक गुणों का बोध होता है। 'आ' वर्ण का प्रयोग करने से परिवर्तित स्वरूप रावणोक्ति का अर्थ ज्ञात होता है कि- हे जानकि! यह रावण अत्यन्त अकुशल होने के कारण अपने हित साधक आचरणों को नहीं करता है तथा सामने उपस्थित विपत्तियों से घिरे हुए इस रावण की सहायता कलत्र मित्रादि द्वारा कैसे हो सकती है? इसकी कार्य सम्पदा (कृति श्री) आरम्भ में ही प्रतिकारी है अर्थात् परिणाम में वह सुखद नहीं है।

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रहेलिका प्रबन्ध कार सीतारामशास्त्री ने तीन प्रहेलिका प्रकारों के चमत्कार से युक्त प्रहेलिका प्रबन्ध की रचना की है। प्रहेलिका पद्यों के चतुर्थ पाद में सीता प्रत्युक्ति विशिष्ट वर्णयोजनावती है। इस वर्ण योजना द्वारा आपाततः रावणोक्ति का प्रत्याख्यान एवं रावण का तिरस्कार मात्र बोधित होता है किन्तु प्रहेलिका विज्ञ सीता प्रत्युक्ति के

---

1. सीतारावणसंवादझरी- आचार्य रमेश चतुर्वेदी- पृष्ठ संख्या-150/80

विश्लेषण से वर्णलोप, वर्णस्थापन एवं वर्ण परिवर्तन विषयक निगूढ निर्देश के अनुसार वर्णलोपादि कर रावणोक्ति का पुनः विवेचन करते हैं तो राम प्रशंसात्मक तथा रावण निन्दात्मक सीता के अभिप्रेत अर्थ को पहचानकर आह्लाद विशेष का अनुभव करते हैं।

कविवर सीतारामशास्त्री ने अपनी अपूर्व, अद्भुत प्रखर मेधाशक्ति के अपूर्व अनुपम प्रहेलिका प्रबन्ध काव्य की रचना की है। समग्र काव्य अद्भुत चमत्कार वैचित्र्य से परिपूर्ण है। कवि की शब्द शय्या, अर्थ का गुम्फन, रस परिपाक तथा संवाद शैली विचित्रचित्रचातुरी से संश्लिष्ट है। समस्त श्लेषमय निगूढ अर्थ से सीता की ओजस्विता व तेजस्विता प्रकट होती है। अपनी वचनावलियों से वैदेही ने सर्वत्र रावण की गर्हणा की है।

स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत वाङ्मय में भी **'प्रहेलिका शतकम्'** इस संज्ञा से काव्य प्रणीत किए गए हैं। प्रथम **'प्रहेलिका शतकम्'** 1991 में **रामाशीष पाण्डेय** द्वारा लिखित है जिसका प्रकाशन 'प्रबोध संस्कृत प्रकाशन' हरम् हाउसिग कालोनी रॉची से हुआ है। द्वितीय **प्रहेलिका शतकम् 1963** में **'वैद्य स्वरूप शास्त्री'** द्वारा प्रणीत है जिसका प्रकाशन 'बाल संस्कृत प्रकाशन' आगरा रोड, घाटकोपर मुम्बई से हुआ है। इस प्रकार प्रहेलिका काव्य की परम्परा अक्षुण्णा बनी हुई है-

यद्यपि साहित्यदर्पणकार आदि अनेक आचार्यो ने नीरस होने के कारण प्रहेलिका में काव्यत्व नहीं स्वीकार किया है। किन्तु प्रहेलिका काव्यों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है- यहाँ तक कि वेदों के मन्त्रों में भी प्रहेलिका का यत्र तत्र अवलोकन किया जा सकता है। अतः **'चमत्कारकारित्वं काव्यम्'** की दृष्टि से चमत्कार युक्त होने के कारण प्रहेलिका में काव्यत्व अवश्य स्वीकार्य है। लोक में भी प्रहेलिका (पहेली) से परस्पर लोगों में चमत्कारानुभूति होती है। वस्तुतः प्रहेलिका काव्य में हास्यरसमूलक अन्यान्य रसों का सन्निवेश किया जाता है इसलिए प्रहेलिका काव्य सर्वथा नीरस होत हैं- यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। प्रस्तुत 'सीतारावणसंवादझरी' प्रहेलिकात्मक काव्य सहृदयजनों के लिए अत्यन्त आनन्दजनक और चमत्काराधायक है- अतः इसका काव्यत्व सहृदयजनों द्वारा समवेत रूप से स्वीकार किया गया है।

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते

-टोनी सिन्हा

शोधच्छात्रा, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
जनकपुरी, नवदेहली

[रसेन विना कस्यचिदपि शब्दकदम्बस्य काव्यत्वं न संभवति। तत्रापि च नाट्यादिषु शास्त्रेषु अस्य वैशिष्ट्यं सर्वातिशयं वर्तते इति अवधार्य अनुसन्धात्र्या शोधलेखोऽयं प्रस्तुतः। -सं०]

सम्पूर्णेऽस्मिन् भूमण्डले यथा संस्कृतं वैशिष्ट्यं धरति तथैव वाङ्मये संस्कृतेऽस्मिन् ऐतिहासिक-सामाजिक-धार्मिकदृष्ट्यनुसारेण शास्त्रस्यास्य नाट्यशास्त्रस्य सर्वाधिकं महत्त्वपूर्णं स्थानं नाऽत्र द्वन्द्वः। उक्तञ्च-

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्॥[1]

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान्-रसानाथर्वणादपि॥[2]

नाट्यशास्त्रानुसारेण नाट्यशास्त्रस्य प्रवक्ता **"ब्रह्मा"** प्रयोक्ता च **"भरतः"** वर्त्तते। अस्मिन् शास्त्रे षड्त्रिंशद्-अध्यायाः श्लोकाः च षड्सहस्रपरिमिताः विद्यन्ते। कुत्रचिदध्यायानां संख्या सप्तपञ्चाशद् अपि प्राप्यते। शास्त्रमिदं छन्दोबद्धं छन्दश्च अनुष्टुप् इति। सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलित-वेद्यान्तरम् आनन्दम् विद्यते[3] विश्वनाथः साहित्यदर्पणे रसस्वरूपं प्रतिपादयति यद् रसो ब्रह्मास्वादसहोदरः।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[4]

---

1. (नाट्यशास्त्रम् १.१)
2. (नाट्यशास्त्रम्, १.७)
3. (काव्य० १-२)
4. (सा०द० ३-२,३)

रसस्य आस्वाद्यत्वम् अनुभूतिविषयत्वं च मम्मटेन वर्ण्यते :-

'पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः, हृदयमिव प्रविशन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।'[1]

तैत्तिरीयोपनिषदि 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'[2]

इत्यत्र ब्रह्मणो रसरूपत्वं तदवाप्तौ च आनन्दोपलब्धिर्वर्ण्यते।

'रसः सर्वेषां भावानां मूलम्, यथा बीजं वृक्षपुष्पादेः।'[3]

नाट्यशास्त्रे भरतेन निर्दिश्यते– 'नहि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'।[4]

कथं रसनिष्पत्तिः इति जिज्ञासायां तेन उच्यते–

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

अत्र विभावाः कारणानि, अनुभावाः कार्याणि, व्यभिचारिणश्च सहकारिणः, एषां संयोगाद् रसस्य निष्पत्तिः।

उक्तं च मम्मटेन–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥

विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थापिभावो रसः स्मृतः॥[5]

यत्र संयोगनिष्पत्तिशब्दयोः चाश्रित्य भेदचतुष्टयं दृश्यते। तत्र (१) भट्टलोल्लटेन **'उत्पत्तिवादः'** इति मीमांसादर्शनम् आश्रित्य। (२) शङ्कुकेन 'अनुमितिवादः' न्यायदर्शनमाश्रित्य। (३) भट्टनायकेन **'भुक्तिवादः'** सांख्यदर्शन-माश्रित्य। (४) अभिनवगुप्तेन च **'अभिव्यक्तिवादः'** वेदान्तदर्शनमाश्रित्य प्रतिपादितः।

१. भट्टलोल्लटस्य उत्पत्तिवादः–भट्टलोल्लटः मतानुसारं विभावानाम् अनुभावानां व्यभिचारिभावानां च संयोगेन रसस्य उत्पत्तिर्भवति। तत्र विभावैः ललनादिभिः आलम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिरूपः स्थायिभावो जायते। अनुभावैः कटाक्षादिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः क्रियते। व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः पोष्यते। स च

---

1. (काव्यप्र० उल्लास-४)
2. (तै० २-७)
3. (नाट्य० ६-३९)
4. (नाट्य० ६-३२)
5. (काव्य० ४-२७, २८)

रसो मुख्यतया अनुकार्ये रामादौ वर्तते। तद्रूपानुकरणात् नटेऽपि स रसः प्रतीयते। विभावैः सह स्थायिभावानाम् उत्पाद्य-उत्पादकभावः संबन्धः, तेन रसस्य निष्पत्तिः उत्पत्तिरित्यर्थः। रसो मुख्यतया अनुकार्ये रामादावेव भवति। नटे तु केवलं तद् रूपानुसंधानाद् रसप्रतीतिः। नटादीनां वेषभूषादिभिः दर्शकानां तथाविधं रसाप्लुतत्वं यथा नटेऽपि तेषां रामादिबुद्धिः। स च यद्यपि सम्प्रति न साक्षात् कर्तुं न शक्यते तथापि रामाद्यनुकारिणि नटे तस्यारोपः सम्भवतीति साक्षात्कारस्तस्य सुलभः। एवं रत्यादेरारोपादेव चमत्कारः सहृदयानाम्। अत एव च काव्ये तेषां प्रवृत्तिरिति बोध्यम्।

२. शङ्कुकस्य अनुमितिवादः– 'चित्रतुरगन्यायेन' यथा अवास्तविकेऽश्वे वास्तविकाश्वबुद्धिः, तथैव सामाजिकैः अभिनेतृषु रामादिबुद्धिम् आरोप्य अभिनयादि-कौशलहेतुत्वाद् रसानुभूतिः क्रियते। अत्र सामाजिकेषु विद्यमानया वासनया अनुमितिसाहाय्येन रसानुभूतिः। सामाजिकाः चित्रतुरगन्यायेन अभिनेतृषु अनुकार्यरामादि-रूपताग्रहणाद् रसानुभूतिम् अनुमाय स्ववासनया तत्र रसानुभूतिं कुर्वन्ति। अत्र सम्यग्-मिथ्या-संशय-सादृश्य-प्रतीतिभ्यो विलक्षणया 'चित्रतुरगन्यायेन' रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या सामाजिकानां वासनया रसानुभूतिः। अत्र अनुमानेन रसानुभूतिर्जायते। अत्र संयोगाद् इत्यस्य गम्य-गमकभावसंबन्धाद् इत्यर्थः। रसनिष्पत्तिरित्यस्य च रसानुमितिरित्यर्थः। तन्मूला च रसानुभूतिः।

३. भट्टनायकस्य भुक्तिवादः– भट्टनायकः रसं नानुमेयं मन्यते, अपि तु भोज्यं मन्यते। संयोगस्याभिप्रायो भोज्यभोजकभावोऽस्ति, निष्पत्तेः तात्पर्यं च **'भुक्तिः'** वर्तते। रसानुभूतिप्रक्रियाया अवस्थात्रयम्–अभिधा, भावकत्वं भोजकत्वं च। तत्र अभिधया शब्दार्थेऽवगते भावकत्वव्यापारेण विभावादीनां साधारणीकरणं भवति। साधारणीकरणेन व्यक्तिवैशिष्ट्यादेः अभावो भवति, अतो विभावादेः निर्वैयक्तिकत्वं भवति। ततश्च भोजकत्वव्यापारेण रजस्तमसोः क्षये सत्त्वोद्रेकाद् रसो भुज्यते आस्वाद्यते इत्यर्थः। स च रसो ब्रह्मास्वादसहोदरः।

४. अभिनवगुप्तस्य अभिव्यक्तिवादः- अभिनवगुप्तः भट्टनायकाभिमतं भावकत्व-भोजकत्व-व्यापारद्वयं निषिध्य अभिव्यञ्जनावादं प्रतिष्ठापयति। स च **'रसनिष्पत्तिः'** इत्यस्य रसाभिव्यक्तिः इत्यर्थं स्वीकरोति। अभिनवगुप्तो भावकत्व-भोजकत्व-व्यापारद्वयम् अशास्त्रीयं मनुते। **'आस्वाद्यत्वाद् रसः'** इति भोजकत्वं रसस्वभाव एव। 'काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः', एवं भावकत्वमपि भावानां वैशिष्ट्यमेव। अतो भावकत्व-भोजकत्व- व्यापारद्वयम् अग्राह्यम्। स रसं व्यङ्ग्यं मनुते। रसो व्यञ्जनया सहृदयं प्रभावयति। रसास्वादश्च सहृदयानामेव। अत्र संयोगशब्देन व्यङ्ग्य-व्यञ्जकसंबन्धो गृह्यते। स्थायिभावो व्यङ्ग्यः, विभावादयश्च व्यञ्जकाः। व्यञ्जनाया विभावनव्यापारेण विभावानां स्थायिभावानां च साधारणीकरणं

भवति। एवं रामाद्यनुकार्याणां भावा वैशिष्ट्यविरहिताः सन्तः सहृदयानां हृत्स्थ-वासनारूपभावान् उद्बोधयन्ति। तन्मतानुसारं 'नह्येतत् चित्तवृत्तिवासनाशून्यः कश्चित् प्राणी भवति'। वासनैषा सुप्तावस्थायां विद्यमाना अभिनयादिभिः काव्यार्थे प्रकाशिते जागर्ति। यथा मृद्गन्धो जलसेचनेन प्रादुर्भवति, तथैव वासनाया अपि उदयः।

साधारणीकरणेन सहृदयस्य वासना-संवादो भवति, सुषुप्तश्च स्थायिभावो निर्वैयक्तिकरूपेणाभिव्यक्तः सन् आनन्दास्वादं कारयति, एष एव रसास्वादः। अस्मिन् आस्वादे एव रसस्य स्थितिः। संविद्विश्रान्तिजन्य एष आनन्दः। अत्र चैतन्यं विश्रान्ति-स्थितौ संतिष्ठते। रसानुभूतिरियं सामान्यानुभूतिभिन्नत्वाद् उदात्तत्वात् सर्वजनवेद्यत्वाच्च अलौकिकी कथ्यते। अत्र संबन्धविशेषस्य परिहारः। रसोऽयं सहृदयसंवेद्यः। मतमिदं शैवाद्वैतवादम् आनन्दवादं वा आश्रित्य प्रवर्तते। तत्र चेतनायाः पूर्णविश्रान्तेः स्थितिः स्वीक्रियते।

अभिनवगुप्तस्य मतमिदं दर्शनमूलत्वात् मनोवैज्ञानिकचिन्तनपरत्वाद् यथार्थभावेन विश्लेषणाच्च अद्यत्वेऽपि सर्वैरेव काव्यतत्त्वज्ञैः गृह्यते स्वीक्रियते प्रशस्यते च।

'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' तथैव जायते यथाहि नाना-व्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः भवति। रसानां प्राधान्यं दृश्यते एव। रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात् इति। यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधिगच्छन्तीति "सुमनसः" पुरुषा इत्यभिव्याख्याताः। तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति हर्षादींश्चाधि-गच्छन्तीति प्रेक्षकाः। "सुमनस" इत्यभिव्याख्याताः। तस्मान्नाट्यरसाः।

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥

रसानां संख्याविषये "अष्टौ" इति प्रतिपादितं नाट्याचार्यैः भरतमुनिभिः-

शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

वास्तविकमेतद्यदि जीवनं सरसं सरलम् उन्नतञ्च इच्छन्ति जनाः तदा शृङ्गारादि-रसानां ज्ञानम् अत्यन्तमावश्यकमन्यथा जीवनं कष्टतरं भवितुमर्हति।

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव-उज्ज्वलः वेषात्मकः। तथा च यत्किञ्चिल्लोके शुचि मध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा भवति तच्छृङ्गारेणोपमीयते।

यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। तस्य द्वे अधिष्ठाने, सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्य-अनुलेपन-अलङ्कार-इष्टजन-विषय-वरभवनोपभोग-उपवनानुभवन-श्रवण-दर्शन-क्रीडा-लीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

हास्यो हि स च विकृतपरवेषालङ्कार-धार्ष्ट्य-लौल्यकुहक-असत्प्रताप-व्यङ्गदर्शन-दोषादाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। द्विविधश्चायम् आत्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदा आत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

करुणो रसस्यास्य विषये प्रतिपादितं यत् करुणो नाम शोकस्थायिप्रभवः। स च शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोग-विभवनाश-वध-बन्ध- विद्रव-उपघात-व्यसन-संयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते।

रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धात्तमनुष्य- प्रकृतिः संग्रामहेतुकः।

वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। स चासम्मोहाध्यवसायनय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

भयानकोनामभयस्थायिभावात्मकः। स च विक्रतरव-सत्त्वदर्शन-शिवोलूकत्रासो-द्वेगशून्यागारारण्यगमन-स्वजनबधबन्धनदर्शनश्रुतिकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

वीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः। स चाहृद्या प्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनो-द्वेजनपरिकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च दिव्यजनदर्शन-ईप्सितमनोरथा-वाप्ति-उपवनदेव-कुलादिगमन-सभा-विमान-मायेन्द्र-जालसम्भावनादिभिर्विभा-वैरुत्पद्यते।

अत्र चरमरसस्य परिचर्चारूपेण शान्त इति रसः व्याख्यायितः—

अथ शान्तो नाम शामस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशय-शुद्धयादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्य यमनियमाध्यात्म-ध्यान-धारणोपासन-सर्वभूतदया-लिङ्ग-ग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-स्मृति-धृति-शौच-स्तम्भ-रोमाञ्चादयः। एवमेते रसा ज्ञेया नवलक्षणलक्षिताः। अनेन वयं नाट्यशास्त्रे विहितं रसज्ञानेन स्वजीवनम् उन्नतपथे प्रेरयितुं शक्नुमः। यतो हि भवन्तः जानन्ति एवाऽस्माकं जीवनं रसमयमेव विद्यते। तथा च एतेषां रसानां समयानुसारं प्रभावः भवति एव।

कुलीनानां हास-उपहासो वा, वाक्प्रयोगः, धैर्यस्यौचित्यम्, उचितसमये वीर-रसस्य प्रयोगः तस्योत्पत्तेः कारणविन्दवश्च, कीदृशवातावरणे न भयस्योत्पत्तिः शान्तिश्च, विस्मयाद्भुतस्य कारणानि उत्पत्तिश्च, इत्यादिकं ज्ञानं रसादेव जायते।

रसज्ञाः एव पण्डिताः साधकाः धर्मज्ञाः च भवितुमर्हन्ति। साधुजनाः एव जनकल्याणाय स्वजीवनमर्पयन्ति लोकाय। तेषां तपसा एव जगत्कल्याणम्। यतो हि संसारेऽस्मिन् बहवः मार्गाः सन्ति परन्तु चिन्तनमेतत् मम यत् सांसारिकाः सर्वेषां मार्गाणामाश्रयणं शान्तिप्राप्त्यर्थमेव कुर्वन्ति। यतो हि प्रत्येकं कार्ये जनानां चिन्तनमेवं भवति यत् वयम् अमुककार्यं कृत्वा स्वजीवने शान्तिमर्जिष्यामः। अत्रापि मोक्षप्रवर्तकः अर्थात् शान्तो नाम नवमो रसः नाट्यकारैः स्वीकृतः। प्रमाणमेतत् यत् जीवनस्य सारः शान्तिरेव वर्त्तते। अत एव मङ्गलाचरणानन्तरं पाठानन्तरं शान्तिपाठमाचरामः। अतः शान्तिरेव मोक्षः आनन्दश्च।

तर्हि शान्तिः कथं वा आयाति जीवने? तस्याश्च कानि कारणानि येषां प्रभावेण शान्तेरुत्पत्तिः भवति? तर्हि उपायो चाऽत्र उक्तः-यमनियमाध्यात्म-ध्यान-धारणोपासन-सर्वभूतदया-लिङ्गग्रहणादिभिः अनुभावैरभिनयः शान्तिः समुत्पद्यते।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

''इति शम्''

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

न्यायाभिमताख्यातेः समीक्षात्मकमध्ययनम्

यशवन्तकुमार त्रिवेदी
शोधच्छात्रः, जे.एन.यू.

[भारतीयदर्शनकाराः ख्यातिसिद्धान्तमादाय तलस्पर्शिविचारं कृतवन्तः। पञ्चख्यातयः प्रसिद्धाः भवन्ति, एतासु पञ्चख्यातिषु न्यायदर्शनाभिमतस्य अख्यातेः अत्र शोधपत्रे लेखकेन विमर्शः कृतः। -सं०]

'ख्य' प्रकथनेति धातुना "ख्याति" शब्दोऽयं निष्पन्नः, तदर्थस्तु निर्वचनं, प्रकथनमित्यादि। ऐतिहासिकदृष्ट्या न्यायमते सर्वप्रथमं वाचस्पतिमिश्रेण "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्" इति द्वितीयसूत्रव्याख्यानावसरे तात्पर्यटीकायां मिथ्याज्ञाननिरूपणे च मिथ्याज्ञानेतिपदस्य विपर्ययार्थकं कथितम्, उक्तञ्च "अन्यथाख्यातिं तु वृद्धाः।" "अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः।" यथाहुः अन्यथाख्यातिवादिनः "तस्माद्यन्यथा सन्तमन्यथा प्रतिपद्यते, तन्निरालम्बनं ज्ञानमसदालम्बनं च तत्।।" इति श्लोकवार्तिकस्थश्लोकं प्रमाणरूपेणोपस्थापिम्। अन्यथाख्यातिरर्थात् न यथा ख्यातिः अन्यथाख्यातिः अर्थात् अन्यस्य अन्य रूपेण प्रतिभासः। यथा शुक्त्यादेः अन्यरूपेण रजतादिरूपेण प्रतिभासः, शुक्तौ इदं रजतमिति प्रतीतिः भवति।

अस्याः ख्यातेः प्रमुखतया पञ्चरूपत्वं दृश्यते आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिः, अख्यातिः, अन्यथाख्यातिः एवमनिर्वचनीयख्यातिरिति।[1] आत्मख्यात्यादेः चतसृणामपि ख्यातिनामन्यथाख्यातौ एवाऽन्तर्भावः कर्तुं शक्यते, यतोहि विज्ञानवादिनः वदन्ति यत् आत्मख्यातिरर्थात् आत्मनो बुद्धेः ज्ञानस्य च विषयरूपेण प्रतिभासः, अनुमानप्रयोगः भवति यत् "विमतं रजतं बुद्धिरूपं चक्षुसंप्रयोगमन्तरेणाऽपेक्षत्वात् बुद्धिसंमतत्वादिति। इदं रजतमिति ज्ञानमेव रजतरूपेण प्रतिभासते, अर्थात् ज्ञानमेव विषयरूपेण प्रतिभासते, अस्य तु सुतरामेव अन्यथाख्यातौरन्तर्भावः यतोहि अन्यस्य ज्ञानस्य अन्यरूपेण विषयरूपेण प्रतिभासमानत्वादेव अन्यथाख्यातित्वमायाति।

---

1. "आत्मख्यातिरसत्ख्यातिः अख्यातिख्यातिरन्यथा, तथाऽनिर्वनीयख्यातिरित्येतत्ख्यातिपंचकम्।" सर्वदर्शनसंग्रहः

माध्यमिकादिनां मते तु असदेव रजतादेः सत्त्वेन प्रतिभासाद् असत्ख्यातिः भवति, वस्तुतः अत्र रजतं तु असदस्ति तस्य सत्त्वेन ख्यापनादेव असद्ख्यातिः स्वीक्रियते, अत्राऽपि स्पष्टमेव अन्यथाख्यातित्वमायाति यतोहि असद् पदार्थस्य सत्त्वेन प्रतिभासमानत्वादसत्ख्यातेरपि अन्यथाख्यातौ एवान्तर्भावः।

वेदान्तिनां मते तु भ्रमेऽनिर्वचनीयख्यातिः, यथा अन्तःकरणं इन्द्रियप्रणालिकया चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य विषयदेशं गत्वा विषयाकारेण परिणमते, सैव परिणमो वृत्तिः कथ्यते, तस्याञ्च वृत्तौ इदमावच्छिन्नं चैतन्यं वृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते,[1] ततः प्रत्यक्षमुपपद्यते, किन्तु पुरोवर्तिनि भ्रमविषयाभावात् तत्र कथं प्रत्यक्षत्वमुपपद्यते, अतः तैः अनिर्वचनीयरजतोत्पत्तिः स्वीक्रियते यत् काचकामलेन दूषितं यल्लोचनं विद्यते तस्य पूरोवर्तिशुक्तिसंयोगादिदमाकारा चाक्यचिक्याकारा च काचिदन्तःकरण-वृत्तिरूदेति, तस्यां वृत्तौ इदमावच्छिन्नं चैतन्यं प्रतिबिम्बते, ततः इदमावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यं चाऽभिन्नं भवति, ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्न विषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिका या अविद्या चाक्यचिक्यादिसादृश्यसन्दर्शनसमुद्बोधितसंस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थकारेण परिणमते,[2] एवमनिर्वचनीयरजतोत्पत्तिः स्वीक्रियते। एवं यदा तु अधिष्ठानसाक्षात्कारो भवति तदा तु नेदं रजतमित्यनेन अनिर्वचनीयरजतस्य निषेधः भवति। अत्राऽपि स्पष्टमेव अन्यथाख्यातित्वमायाति यतोहि अनिर्वचनीयख्याति इति शब्दतः अन्यथाख्यातित्वमायाति, ख्यातिरर्थात् निर्वचनियत्वं तदा तु अनिर्वचनीयस्य निर्वचनादेव अन्यथात्वमायाति। अपि च अध्यासविचारणाऽवसरे शाङ्करभाष्ये उक्तं यत् सर्वथैव अन्यस्य धर्मावभासतां न व्यभिचरति, अन्यस्य अन्यधर्मावभासैव अन्यथाख्याति विद्यते, अतः अनिर्वचनीय-ख्यातेरपि अन्यथाख्यातौ एवान्तर्भावः।

अख्यातिवादिनां मीमांसकानां मते तु भ्रमविषये अख्यातिः भवति, यथा पुरोवर्तिनि शुक्तौ रजतप्रतीतिदशायामत्र शुक्त्याः साकं चक्षुस्सन्निकर्षः रजतस्य च स्मरणात्मकमिति ज्ञानद्वयकल्पनादेव सामञ्जस्ये तत्र विशिष्टज्ञानमकल्पनीयम्। अत्र प्रवृत्तेरप्युपपद्यते यतोहि मीमांसकमते प्रवृत्तिं प्रति न हि विशिष्टज्ञानं कारणमपि तु भेदाऽग्रहैव कारणं, तत्र शुक्तौ रजतभेदाग्रहादेव प्रवृत्तिः भवति, अथ च यदा रजते रजतत्वबुद्धिः भवति तत्राऽपि प्रवृत्तिं प्रति भेदाऽग्रहैव कारणम्। निवृत्तिं प्रत्यपि भेदाऽग्रहैव कारणं, यथा रजते रजतभेदाऽग्रहाद् निवृत्तिः भवति, प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयनिष्ठ-

---

1. "…..तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते…।" वेदान्तपरिभाषा
2. "काचकामलदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसंयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा च काचिद. ..।" वेदान्तपरिभाषा

कार्यतानिरूपितकारणता भेदाऽग्रहे विद्यते, अतः अनन्तकार्यकारणभावकल्पनाऽपि नास्ति। अथ च ज्ञानस्य अर्थाऽव्यभिचारित्वनियमाद् सर्वमपि ज्ञानं यथार्थमतः भ्रमेऽतिव्यातिवारणाय तद्वद्विशेष्यकत्वविशिष्टतत्प्रकारकत्वलक्षणे विशेषणीभूतस्य तद्वद्विशेष्यकत्वस्य वैयर्थ्यं भ्रमाऽभावात्। अपि च यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते सः तस्य विषयो नान्यः तस्य तत्राऽनवभासाद् अनवभासमानस्य विषयत्वेऽतिप्रसङ्गात् तेन अन्यस्य अन्यथाभानं प्रतीतिविरूद्धमेव। अथ च लौकिकप्रत्यक्षं प्रति इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपेक्षते, एवं शुक्तौ रजतज्ञानकाले रजताऽभावात् तेन सह चक्षुस्सन्निकर्षाऽभावात् कथं रजतस्य प्रत्यक्षं भवति, रजतप्रत्यक्षाऽभावे रजते प्रवृत्तिः नोपपद्यते।

अत्र नैयायिकाः वदन्ति यत् यदि भेदाऽग्रहैव प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयं प्रति कारणं तदा तु रङ्गरजतयोः इमे रङ्गे रजते वेति समूहालम्बनात्मके भ्रमे रङ्गरजताभ्यां चक्षुस्संयोगे सति रङ्गरजतोभयविशेष्यकरजत्वप्रकारकं इमे रजते इति ज्ञानं रङ्गांशे भ्रमात्मकम्, यद्वा इदन्त्वेन रंगरजतोभयविशेष्यकं रङ्गत्वप्रकारकं इमे रङ्गे इति ज्ञानं रजतांशे भ्रमात्मकम् इत्यत्र रजतेन सह इन्द्रियसन्निकर्षाद् रजतत्वेन साकं चक्षुस्संयुक्तसमवायात्मकलौकिकसन्निकर्षाऽकल्पनेन ज्ञानलक्षणायाः प्रत्यासत्तित्व-कल्पनाप्रयुक्तगौरवप्रयोज्यानुमितिधर्मिकऽप्रामाण्यज्ञानोत्पत्तेः अप्रसक्त्या रङ्गांशे विसंवादिप्रवृत्तिहेतुतया अन्यथाख्यात्यभ्युपगमः आवश्यकमिति।[1] यद्युच्यते यद् एकः नियमः विद्यते तत्तद्विशेष्ये तत्तद्विशिष्टबुद्धिं प्रति तत्तद्विशेषणे ततद्विशेष्यघटितसन्निकर्षो हेतुः, अन्यथा असन्निकृष्टपदार्थस्यापि प्रत्यक्षाऽपत्तेः, तथा च कथं रजतघटित-संयुक्तसमवायेन रङ्गे रजतत्वग्रहः, तथा चाऽत्र अन्यथाख्यातिसंभवो नास्ति। अत्र दोषान्तरमपि प्रदीयते यत् रङ्गरजतयोः इमे रजतरङ्गे इति समूहाऽलम्बनात्मके भ्रमे युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयोत्पत्त्याऽपत्तिप्रसङ्गः, यतोहि रङ्गे प्रवृत्तिकारणस्य रजतभेदाऽग्रहस्य निवृत्तिकारणस्य रङ्गभेदाऽग्रहस्य, रजते प्रवृत्तिकारणस्य रजतभेदाऽग्रहस्य निवृत्तिकारणस्य रङ्गभेदाऽग्रहस्य च सत्त्वात्। तथा चैककर्तृकयुगपत्प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयोत्पत्त्यापत्तिप्रसङ्गः। यदि च परस्परसामग्र्याः फलप्रतिबन्धकत्वं स्वीक्रियते तदा तु एकैकस्याऽनुत्पत्ते-रूभयाऽनुत्पत्तिप्रसङ्गः।[2] तस्मात् भेदाऽग्रहस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिं प्रति कारणत्वं परित्यज्य प्रवृत्तिं प्रति इष्टतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्य, निवृत्तिं प्रति च अनिष्टतावच्छेदक-प्रकारकज्ञानस्य अन्यथाऽनुपपत्त्या हेतुत्वमङ्गीकृत्यैव युगपत्प्रवृत्त्यापत्तिदोषो वारणीयः।

---

1. "किञ्च यत्र रङ्गरजतयोरिमे रजते रङ्गे वेति ज्ञानं जातं तत्र न कारणबाधोऽपि।" न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीः
2. "अपि च यत्र रङ्गरजतयोरिमे रजतरङ्गे इति ज्ञानं तत्रोभयत्र युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ती....।" न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीः

तथा च रङ्गे इष्टतावच्छेदकरजत्वप्रकारकस्य अन्यथाख्यात्यात्मकस्य भ्रमस्य सिद्धिः निराबाधैव भवति, रजते च अनिष्टतावच्छेदकरङ्गत्वप्रकारकस्य अन्यथाख्यात्यात्मकस्य सिद्धिः निराबाधैव भवति। अपि च यद्यनुमितिं प्रत्यपि भेदाऽग्रहैव कारणं तदा तु "ह्रदः वह्निमान् धूमादित्यत्र" वह्निव्याप्यधूमवद्-भेदाऽग्रहकालीनव्याप्यविशिष्ट-विषयकोपस्थितिविशिष्टपक्षग्रहादनुमितिः निराबाधैव, यतोहि अनुमितिं प्रति न हि तृतीयज्ञानं कारणमपितु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेनैव कारणत्वं, यद्यत्र अनुमितिः नाङ्गीक्रियते तदा तु अन्वयव्यभिचारः, यद्यभ्युपेयते तदा तु "ह्रदः वह्निमानः इत्यन्यथाख्यात्यात्मकस्य अनुमितेः सिद्धिः निराबाधैव। यद्युच्यते तत्र विशिष्टज्ञानमेव कारणं तदा तु स्वसिद्धान्तपरित्यागापत्तिरथ च अयोगोलके वह्नेः प्रत्यक्षमिव अनुमितेरपि सर्वसम्मततया "अयोगोलकं वह्निमदि"त्यनुरोधात् तत्कारणत्वेन वह्निव्याप्यधूमज्ञानमवश्यमभ्युपेयं तथा च कारणात्मकाऽन्यथाख्यातेः सिद्धिः भवति।

यदि च उभयस्थलेऽपि अगृहीताऽसंसर्गकज्ञानद्वयं "ह्रदो वह्निमान्" "अयोगोलकं वह्निमदित्यभ्युपेयते" तथा च विशिष्टात्मकज्ञानाऽनभ्युपगमात् नान्यथाख्यातिसिद्धिः। यदि प्रत्यक्षप्रमाणेन "रङ्गे रजतत्वप्रकारकाऽन्यथाख्यातेः सिद्धिः क्रियते,[1] तदा तत्र प्रत्यक्षस्मरणात्मकज्ञानद्वयस्वीकारेणैव सामञ्जस्ये प्रत्यक्षेणापि अन्यथाख्यातेः सिद्धिः न सम्भवति। अतः मानसाऽनुव्यवसायेण अन्यथाख्यातेः सिद्धिप्रयासः क्रियते यत् भ्रमानन्तरं रङ्गं रजततया जानामि इत्यनुव्यवसायसाक्षिकमेव अन्यस्य अन्यथाभानम्।[2] अत्राऽनुव्यवसायस्य अप्रामाण्यं न आशङ्कनीयम यतोहि अनुवव्यवसायस्य प्रमात्वनियमात्। व्यवसायाऽनुव्यवसायो हि समानविषयकत्वनियमः, यथा "अयं घटः" इति व्यवसायानन्तरं घटत्वप्रकारकघटविशेष्यकमेवाऽनुव्यवसायो भवति।

अत्रेदंशङ्कते यत् इदं रजततया जानामि इत्यनुव्यवसायः रजतभेदाऽग्रहकालीन-रजतत्वप्रकारतानिरूपितविशेष्यतायाः पुरोवर्तिशुक्तौ असंसर्गाग्रह एव न तु तादृशविशिष्टज्ञानं। तदोच्यते यत् भ्रमबाधानन्तरं "नेदं रजतं किन्तु शुक्तिः" इति बाधनिश्चयोत्तरं "शुक्तिं रजततया अज्ञासिषम् इत्युत्पादात्, तत्पूर्वक्षणे च तयोर्भेदग्रहस्य विद्यमानतया बाधितेन तद्भेदाऽग्रहात्मना अनुव्यवसायस्य स्थातुमशक्यत्वात्। अपि च भ्रमस्थले धर्मपदार्थेन साकं लौकिकसन्निकर्षाऽभावस्थले ज्ञानलक्षणाप्रत्यसत्तित्व-कल्पनेनैव रजतप्रत्यक्षसामञ्जस्ये न कोऽपि दोषः।

तत्र भ्रमस्य अन्यथात्वं कथं भवति, तदूच्यते "इदं रजतमित्येकमेव ज्ञानं" तत्र रजतमितिज्ञानविषयं तु हाटकस्थरजतं भवति, किन्तु हाटके प्रवृत्तिः न भवति किन्तु पुरोवर्तिनि पदार्थे, अतः रजतमितिज्ञानविषयं यद् हाटकस्थरजतमित्यत्र रजतांशे

1. "इत्थं चान्यथाख्यातौ प्रत्यक्षमेव प्रमाणं।" न्यायसिद्धान्तमुक्तावली:
2. "रङ्गं रजततया जानामि इत्यनुभवादिति संक्षेपः।" न्यायसिद्धान्तमुक्तावली:

धर्मद्वयं रजतत्वं हाटकस्थत्वञ्च, तत्र हाटकस्थत्वं परित्यज्य रजतत्वमात्र- मवभासते, अतः रजमित्यंशे अन्यथात्वमायाति। इदमिति ज्ञानविषयं तु शुक्ति भवति, किन्तु यदा इदमिति ज्ञानविषयशुक्तेः शुक्तित्वेन भानं भवति तदा तत्र रजतार्थिव्यक्तेः प्रवृत्त्यनुपपत्तिः स्यात्, अतः इदमितिज्ञानविषयशुक्तेः न हि शुक्तित्वेन भानमपि तु अन्यधर्मेण रजतत्वेन, इत्थमिदमित्यंशे रजतांशे च अन्यथात्वमायाति अतः अन्यथाख्यातिरिति तु अन्वर्थसंज्ञा।

तत्र साकारवादिनः वदन्ति यत् रजतज्ञाने समवायसम्बन्धेन रजतत्वं विद्यते, रजतस्य ज्ञानस्य च विषयविषयिभावसम्बन्धं नाऽभ्युपगच्छन्ति। किन्तु नैयायिकानां मते रजतज्ञाने रजतत्वस्य समवाय एव नास्ति, अपि तु रजततज्ज्ञानयोः विषयविषयिभावः, तेन शुक्तौ रजतत्वस्य समवायः नास्ति, अतः अन्यथाख्यातिवादे ज्ञानस्य सकारतावादप्रसङ्गो नावतरति।[1]

अत्राऽपि एका शङ्का भवति यत् यथा घटज्ञानं घटाऽभावस्य प्रतिबन्धकं तथैव घटज्ञानमपि घटाभावाऽभावमुद्रया घटाऽभावज्ञानस्य प्रतिबन्धकमतः रजतमिति ज्ञानमेव रजतभेदाऽभावमुद्रया कथं न नेदं रजतमिति ज्ञानप्रतिबन्धकं, तदोच्यते यत् प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावे अनन्यथासिद्धबुद्धिरेव नियामिका अर्थात् न हि विरोधिविषयकत्वं बाधकत्वे तन्त्रम् अपि तु विरोधितविषयकाऽनन्यथासिद्धज्ञानमेव प्रतिबन्धकं,[2] तच्च विशेषदर्शनलौकिकसन्निकर्षादिरूपोत्तेजकाधीनत्वं, तत्र शुक्तौ दोषवशात् रजतबुद्ध्यनन्तरं रजतत्वाभावव्याप्यलिङ्गविशेषस्य धर्मिणि शुक्तौ दर्शनात् नेदं रजतमिति किन्तु शुक्तिः इति निश्चयः समुत्पद्यते, द्वितीयज्ञानं तु विशेषदर्शनधीस्सन् पूर्वोत्पन्नं रजतज्ञानं बाधते,शुक्तौ रजतज्ञानं विशेषदर्शनधीनं विना उत्पन्नत्वात् न बाधकमिति। अपि च तन्त्रवार्तिके उक्तमस्ति यत् पूर्वज्ञानापेक्षया परज्ञानं बलीयस्त्वं भवति यदा तत्र परस्परनिरपेक्षबुद्धिः स्यात्।[3] यत्र पूर्वापेक्षमुत्तरं ज्ञानमुत्पत्तुमुन्मुखं तत्रोपजीव्यपूर्वविरोधेनोत्तरं नोत्पद्यते, अतः अजातं सत्पूर्वं कथं बाधताम्।

अत्र पुनः एका शङ्का उत्पद्यते यत् शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानस्य कथमयथार्थत्वमायाति, तस्य असद्विषयत्वं नास्ति शुक्तिरजतयोः च विद्यमानत्वात्। यद्युच्यते यत् शुक्तिरजतयोः यत् तादात्म्यं सत्त्वं नास्ति अपितु असत्त्वमेव, तदोच्यते यत् शुक्तिरजतोभयतादात्म्यं तु शुक्तिरजतोभयं तादात्म्यञ्चेति तदा तु शुक्तिरजतोभयं

---

1. "ज्ञाने रजतत्वाऽनभ्युपगमाद्विशेषणविशेष्यविषयकत्वाच्च न साकारवादः।" तत्त्वचिन्तामणिः
2. "यत्तु ज्ञानमिथ्यात्वे बाध्यबाधकव्यवस्था न स्यादविशेषादिति। तन्न, अनन्यथासिद्धाया धियो बाधकत्वात्।" तत्त्वचिन्तामणिः
3. "पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयते, अन्योन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धीयां भवेत्।" तन्त्रवार्तिकः

तत्र तत्र प्रसिद्धम्, तादात्म्यञ्च नीलघटाद्योः प्रसिद्ध्यति, अतः कथमयथार्थत्वम्। यदि कथ्यते यत् असदेव शशविषाणवत् शुक्तिरजतयोः तादात्म्यमिति, तदा तु असत्ख्यातौ पर्यवसानेन अपसिद्धान्ताऽपत्तिः। एवमेव ह्रदे अयं धूमवान् इति संसर्गारोऽपीति यथार्थ्यमेव असद्विषयकत्वात्, ह्रदधूमसंयोगानां प्रत्येकं प्रसिद्धत्वेन असम्भवात्, असतो ह्रदधूमसंयोगस्य तद्विषयत्वे असत्ख्यातिप्रसङ्गात्।[1] अस्याः शङ्कायाः निरासः क्रियते यत् "तदभाववति तत्प्रकारकत्वं प्रकारव्यधिकरणविशेष्यताकत्वं वेति भ्रमस्य लक्षणद्वयमस्ति, तत्र प्रमायामिव भ्रमेऽपि सदेव वस्तु भासते, न हि कदाचिदपि असद् भासते, प्रमाभ्रमयोः मध्ये अयमेव विशेषः यत् प्रमायां धर्मिणि भासमानो विशेषणसम्बन्धः तस्मिन् धर्मिणि नास्ति, अन्यत्र धर्मिणि प्रसिद्ध्यति। इदं रजतमिति भ्रमे धर्मी पुरोवर्तिशुक्तिः विद्यते, तस्मिन् रजतत्वसमवायः रजततादात्म्यं वा विशेषणसम्बन्धो नास्ति किन्तु भासते। लक्षणवर्तिप्रथमतत्पदेन प्रकारीभूतधर्मः गृह्यते, सप्तम्यर्थः विशेष्यत्वं, स च निरूपितत्वसम्बन्धेन प्रकारतायामन्वेति, तदा लक्षणस्वरूपं भवति यत् तदभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपित तन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञान-त्वमिति, शुक्तौ इदं रजतमित्यत्र रजतत्वाभाववन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितरजत्वनिष्ठ-प्रकारतानिशालित्वात् भवति लक्षणसमन्वयः। यत् तद् पदार्थयोरननुगततया तदघटितलक्षणं क्रियते यत् "प्रकारव्यधिकरणविशेष्यताशालिज्ञानत्वमिति" अर्थात् प्रकारानधिकरणवृत्ति-विशेष्यताशालिज्ञानत्वमिति, इदं रजतमिति भ्रमे प्रकारीभूतरजतत्वस्य समवायेन अनधिकरणं शुक्तिः, तद्वृत्तिविशेष्यतानिरूपकत्वं उक्तभ्रमे सत्वात् न कोऽपि दोषः। इत्थं न्यायदर्शने भ्रमलक्षणस्य निरूपणं विद्यते इति दिक्।[2]

सन्दर्भग्रन्थसूचिः

तर्कसंग्रहः, (न्यायबोधिनीसहितम्), भट्टः अन्नम्, वाराणसीः, चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम्, २००५

तत्त्वचिन्तामणिः, उपाध्यायः गंगेशः, कलकत्ता, एशियाटिकसोसायटिओफ्बंगालः, १९१२

---

1. "अथेदं रजतमिति ज्ञानं कथमयथार्थम् इदंरजतयोः सत्त्वात्। न च तदुभयतादात्म्यमसत् उभयतादात्म्यञ्चेति अतोऽधिकस्याऽभावात्। तयोश्च सत्त्वात्। असत्त्वे वा असत्ख्यातिः, एवं संसर्गारोऽपीति।" तत्वचिन्तांमणिः
2. उच्यते, सन्मात्रविषयत्वेऽपि तदभाववति तत्प्रकारकत्वं प्रकारव्यधिकरणविषयताकत्वं वा अयथार्थत्वमिति।" तत्वचिन्तामणिः

न्यायसूत्रम्, गौतमः, भाष्यवार्तिकटीकापरिशुद्धिसहितम्, अनन्तलालठक्कुरेण सम्पादितम्, मिथिलाविद्यापीठग्रन्थमालातः, १९६७

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिः, (श्री कृष्णवल्लभाचार्य-कृत-किरणावलीसहितम्). पंचाननविश्वनाथः, वाराणासीः, चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम्, १९९५.

झल्कीकरः भीमाचार्यः, न्यायकोशः, मुम्बइतः, निर्णयसागरप्रेसः, प्राच्यविद्यासंशोधन-मन्दिरम्, १९२८

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

शिक्षा के केन्द्र के रूप में संग्रहालयों की भूमिका का अध्ययन

-डॉ. संगीता

सहाचार्या, शिक्षाशास्त्र विभाग
सी.एम.पी.पीजी कॉलेज, इलाहाबाद

[प्रस्तुते हि शोधलेखे शिक्षाकेन्द्ररूपे संग्रहालयानां भूमिका कीदृशी भवतीति विवेचितम्। -सं०]

विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में अग्रणी भारतीय संस्कृति ने प्राचीन काल से ही ज्ञान एवं शिक्षा के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान किया है। कालान्तर में संग्रहालयों के माध्यम से जनसामान्य को शिक्षित करने की अवधारणा भी विकसित हुई। संग्रहालयों को म्यूजियम कहा जाने लगा, यह नामकरण ग्रीको के ज्ञान की देवी 'म्यूज' के मंदिर के आधार पर पड़ा। इसे अजायबघर भी कहा जाता है। संग्रहालय एक ऐसा स्थान है, जहाँ विविध प्रकार की कलाकृतियों का संग्रह किया जाता है। संग्रहालय में संग्रहित कलावस्तुएँ हमारे अतीत की विरासत का प्रतिनिधित्व करती है। यहाँ सुरक्षित अनेक प्रकार की कलाकृति हमारे विभिन्न काल युगों एवं संस्कृतियों की मूक साक्षी है। यह वह संस्थान है, जिसे समय की सेवा और विकास के लिये, जनसामान्य के दर्शनार्थ खोला जाता है। साथ ही संग्रहालय मानव और पर्यावरण की विरासतो के संरक्षण के लिये उनका समग्र, शोध, प्रचार या प्रदर्शन करता है, जिसका उपयोग शिक्षा, अध्ययन और मनोरंजन के लिये होता है।

किसी भी संग्रहालय में संगृहीत एव प्रदर्शित कलाकृतियां संग्रहालय में आने वाले दर्शकों के लिये सुरक्षित भी की जाती है। जिससे वह अतीत के विषय में ज्ञान अर्जित कर सकें संग्रहालय में आने वाले आगन्तुकों लिये संग्रहालय द्वारा पूर्ण रूप से सहयोग किये जाने का प्रबन्ध होना चाहिये। इस तरह से एक प्रकार की औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत दिग्दर्शन भ्रमण, दीर्घा में वार्ता, अस्थायी एव स्थायी प्रदर्शन, सांस्कृतिक कार्यक्रम, वाद-विवाद प्रतियोगिता के अलावा अन्य शैक्षणिक गतिविधियों आदि की व्यवस्था का व्यवहार किया जा

सकता है। संग्रहालय में आने वाले दर्शकों के लिये चित्र, पोस्टकार्ड, पिक्चर, पम्फलेट, लिफलेट, हैन्डबुक, गैलरी, पुस्तिकायें, कलाकृतियों के मॉडल प्रतिकृति आदि वे समस्त वस्तुएं दर्शकों को संग्रहालय के प्रतिकृति आदि वे समस्त वस्तुएँ दर्शकों को संग्रहालय के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी उपलब्ध कराती है।[1]

यद्यपि संग्रहालय निर्माण किये जाने की अवधारणा का विकास प्राचीनकालीन है परन्तु आधुनिक संग्रहालयों के संदर्भ में इनका इतिहास 18वीं शताब्दी से माना जाता है।

तत्कालीन प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने भारतीय संग्रहालय के द्विशताब्दिक समारोह के अध्यक्षीय भाषण में इसकी प्राचीनता व महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये कहा-

कोलकाता भारतीय संग्रहालय की स्थापना 1814 में की गई। यह एशिया प्रशान्त क्षेत्र में पहला विशाल संग्रहालय है। यह विश्व के सबसे विशाल संग्रहालय स्मिथ सोनियन इन्स्टीट्यूशन से भी पुराना है। यह संग्रहालय तब स्थापित हुआ जब राष्ट्र अंग्रेजों के शासन के शिंकजे में आने लगा था। 18वीं शताब्दी का भारत सामयिक पश्चिम विद्वानों के लिये रोचक विषय था और वह भारत के ऐतिहासिक अतीत, पुरातन संस्कृति और वैज्ञानिक उपलब्धियों का अध्ययन करने के इच्छुक थे। यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय संग्रहालय की स्थापना भारत जैसे देश की विविध और व्यापक विरासत के प्रदर्शित करने की ऐतिहासिक जरूरत थी[2]

संग्रहालय वास्तव में एक समूह सांस्कृतिक विरासत है। लंदन में 1660 में रॉयल सोसाइटी की स्थापना के 100 वर्ष पश्चात् सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में एशियटिक सोसाइटी की स्थापना की इसके साथ ही भारत की समृद्ध सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत की पश्चित द्वारा व्यापक खोज की यात्रा की शुरुआत हुई।

डेनमार्क के वनस्पति विद्वान डॉ. नेपोलियन वालिच ने 1814 में महसूस किया कि यह सोसाइटी एक सार्वजनिक संग्रहालय बन सकती है। संग्रहालय के विस्तार में काली किशन बहादुर और बेगम सुमरू ने सहायता दी।

---

1. कमल एस, श्रीवास्तव एवं संगीता श्रीवास्तव-संग्रहालय विज्ञानका अध्ययन-PP33. 34
2. भूतपूर्व प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा दिया गया-भारत संग्रहालय के द्विशाब्दिक समारोह के अवसर पर -जी न्यूज, WWW. भारत में संग्रहालय

अपने अथक प्रयासों से भारत की गहरी समृद्ध और सांस्कृतिक परंपराओं ने शीघ्र ही इन विद्वानों के प्रारम्भिक आश्चर्य को और अधिक सराहनीय व श्रेष्ठ बना दिया।

रविन्द्र नाथ टैगोर के अनुसार-इतिहास के पुनजार्गरण के महान अंकुर तब मिले जब लोगों ने अतीत के भंडार में अचानक सोच के अंकुर की खोज की।

भारत की अजादी के उपरान्त एक नई चेतना जागृत हुई, तत्पश्चात् सभी व्यक्तिगत तथा सरकारी संस्थाओं को यह अनुभूति होने लगी कि संग्रहालय एक अनौपचारिक शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसित किये जा सकते है। वर्तमान समय में संग्रहालय शिक्षा एवं शैक्षणिक गतिविधियों के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर रहे हैं, भारत में संग्रहालयों के अनेक प्रकार है। जिस प्रकार के संग्रहालय उसी प्रकार से वहाँ शिक्षा का विकास किया जा सकता है। भारत के अन्य संग्रहालय-

राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली-आधुनिक-भारतीय निर्माता भारत की समृद्धता और इसके मूल्य तथा भावी-पीढ़ियों के लिये इसकी उत्सुकता से भी परिचित थे। इसके अलावा उन्हें महत्त्वपूर्ण संस्थान निर्माण करने की प्रासंगिकता की शान थी। आजादी के दो वर्षों के पश्चात् नई दिल्ली में राष्ट्रीय संग्रहालय की स्थापना की गई जो आज बौद्धिक और शैक्षणिक गतिविधियों का केन्द्र है। इसका उद्देश्य है-

1. ऐतिहासिक सांस्कृतिक और कलात्मक महत्त्व की पुरावस्तुओं और कलाकृतियों का प्रदर्शन, सुरक्षा, परिरक्षण और निर्वचन (शोध) के प्रयोजन हेतु संग्रहित करना है।

2. साथ ही भारतीय संस्कृति के बारे में जानकारी प्रदान करना है।

3. राष्ट्रीय पहचान के रूप में विकसित हो।

राष्ट्रीय रेलवे संग्रहालय नई दिल्ली-यह संग्रहालय 165 वर्ष की रेलवे की यात्रा की कहानी दर्शाता है। साथ ही टॉय ट्रेन द्वारा संग्रहालय के चारों ओर पर्यटकों को भ्रमण भी कराती है। इस संग्रहालय का नाम गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड, रिकॉर्डस में दर्ज है।

सरदार पटेल संग्रहालय, अहमदाबाद-सरदार पटेल संग्रहालय अजादी की कहानी और स्वतंत्रता सेनानियों के बारे में पर्यटकों को परिचित कराती है। यह 3D साउंड एण्ड लाइट कार्यक्रम का आयोजन करता है।

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय, भोपाल-यह संग्रहालय एशिया

में मौजूद मानव जीवन की सजीव प्रस्तुति करता है। यह संग्रहालय 200 एकड़ में फैला है। इसके दो भाग है।

1. प्रदर्शन

2. प्रशिक्षण

राष्ट्रीय कृषि विज्ञान म्यूजियम, नई दिल्ली-यह संग्रहालय 23,000 फिट के फ्लोर क्षेत्रफल वाले दो मंजिला भवन में फैला हुआ है।

*. यह भावी कल्पनाओं के साथ राष्ट्र के कृषि में प्रागैतिहासिक काल और वर्तमान काल की कृषि व पशुपालन स्टेट ऑफ आर्ट कृषि नाभिकीय सम्बन्धित कृषि प्रगति को दर्शाता है।

*. यहाँ भारतीय समाज की सभ्यता व संस्कृति की गाथा वर्णित है।

*. इसमें 150 प्रदर्शनियाँ है। जिसका प्रदर्शन दो खण्डों में किया गया है।

लघु संग्रहालय राष्ट्र की सांस्कृतिक पुनरुत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह संग्रहालय स्थानीय पुरा संपदा का प्रदर्शन करके प्राचीन संस्कृति की जानकारी प्रदानकर स्थानीय समाज की जागृत करते हैं। लघु संग्रहालय देश के बड़े संग्रहालयों की आधार शिला है। तथा इतिहास लेखन में दुर्लभ पुरासाक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इन्हें निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।[1]

*. स्थल संग्रहालय

*. विश्वविद्यालय या शिक्षण संस्थानों के अधीन संग्रहालय

3. क्षेत्रीय या स्थानीय संग्रहालय

4 लोक संस्कृति (एन्थोपोलाजिकल) से सम्बन्धित संग्रहालय

5. एक स्थान से दूसरे स्थान पर वाहन द्वारा ले जाये जाने वाला संग्रहालय

6. खुले आकाश के संग्रहालय

7. गाँव के संग्रहालय

8. जन स्वास्थ्य सम्बन्धित संग्रहालय इत्यादि।

संग्रहालयों का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित होता रहा है। प्रारम्भिक अवस्था में यह संकलन व कलात्मक वस्तुओं के भण्डारण से संबंधित था। ऐसा भवन बना जहाँ पर पुरावस्तुओं, प्राकृतिक इतिहास, कला जैसी वस्तुओं का संग्रहण किया जाता था।

---

1. म्यूजियम एंड म्यजोलॉजी-शर्मा माधुरी, डी.पी. शर्मा, दीक्षित प्रेस एलनगंज इलाहाबाद

यह कला को सीखने की इच्छा हेतु समर्पित भवन है। यह संग्रहालय शब्द समाज की पहचान बनी और साथ ही साथ वह समाज वह अटूट हिस्सा भी है। यह मात्र संकलन नहीं है, अपितु सीखने और सीखाने के प्रसार का संस्थान है।

संग्रहालय आज अपनी नई यात्रा की शुरुआत कर रहा है। इसे ज्ञान के संवाहक की भूमिका के बारे में गंभीर रुप से मनन करना होगा। वर्तमान विश्व में संग्रहालय को केवल संकलन का केन्द्र बन जाना पर्याप्त नहीं है। किसी भी संग्रहालय के लिये अपने यहां के संकलन का विश्लेषण और दस्तावेज-करण करना होगा।

∘ अन्य संग्रहालयों के संकलन का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा।

* यह एक ऐसा संबंधित आयाम है जिसे मस्तिष्क में रखना जरूरी होगा। संग्रहालय पर्यटन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में-

∘ इसको देखने से ज्ञान समृद्ध होता है।

∘ यह एक अनूठा अनुभव भी होता है।

∘ इसे और आकर्षक बनाया जाये जिससे पर्यटक बिना किसी तनाव के ही कुछ सीख सकें।

∘ संकलन का ऐसा अनुभव हो, जो कि देखने वाले के मन मस्तिष्क को प्रभावित कर सकें।

शिक्षा के केन्द्र के रूप में संग्रहालयों की भूमिका का अध्ययन-

संग्रहालय एक तरह से औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा के केन्द्र के रूप में जाने जाते हैं। संग्रहालयों का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह अपने संग्रह में सजाई गई सांस्कृतिक विरासत के प्रति जनसामान्य के मध्य एक शैक्षणिक भूमिका का निर्वाह करें।

वर्तमान काल में संग्रहालय का मुख उद्देश्य कला-कृतियों की प्रदर्शनी लगाकर लोगों को शिक्षित करना है। पहले संग्रहालय में प्रदर्शनी मात्र सजावट के रूप में होती थी। परन्तु संग्रहालयविदों द्वारा नित नये अनुभवों के फलस्वरूप इसमें व्यापक रूप से परिवर्तन होने लगा, जिसके तहत् दर्शकों का मनोरंजन होने के साथ ही साथ शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त करने का स्थान भी बन गया।

* इसके सहायक तत्त्व के रूप में लेबल, चार्ट, छायाचित्र, शोकेस, पेडेस्टल, स्क्रीन, प्रकाशव्यवस्था, रंग-योजना, कलाकृति के अनुरूप स्थान का विभाजन तथा अन्य प्रकार के तकनीकी सहायकों जैसे

कलात्मक फिल्म एवं स्लाइड शो आदि से परिपूर्ण वातावरण का निर्माण करके दर्शकों की रुचि के अनुसार प्रर्दशन का प्रबन्ध किया जाये।

* संग्रहालय में संग्रहित सभी वस्तुओं का प्रदर्शन संभव नहीं है। यह संग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है।

1. साधारण दर्शक के मनोरंजनार्थ एव ज्ञानवर्धक उद्देश्य की पूर्णता के लिये।

2. शोधकर्त्ताओं एवं विद्वानों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रथम प्रकार के अन्तर्गत वस्तुओं का चयन करने के संदर्भ में दर्शकों की रुचि एवं उपयोगिता के अनुसार होने चाहिये। दूसरे आधार पर प्रदर्शन का आयोजन इस प्रकार से किया जाना चाहिये कि वह शैक्षिक वातावरण से पूर्ण हो।[1]

कुछ संग्रहालय इस प्रकार के हैं जो प्राथमिक विद्यालयों के बच्चों को शिक्षित करने के लिये विशेष योगदान देते हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि इन संस्थानों के शिक्षकों को समय-समय पर प्रशिक्षण दिया जाये, उनके द्वारा अध्ययन कक्षा कक्ष में संग्रहालय की दीर्घा को एवं उनमें सुरक्षित कलाकृतियों के विषय में विशेष कक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है।

* राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली जैसे कई संग्रहालय हैं, जो उच्च विद्यार्थियों के लिये शैक्षिक भूमिका का निर्वहन करते हैं और शोधकार्य सम्पन्न कराते हैं।

किसी भी संग्रहालय के लिये यह आवश्यक है कि वह शोधार्थी एव शोधकार्य के प्रति ईमानदारी से उत्तरदायी हो। इसके लिये संग्रहालय में फोटो विभाग अवश्य क्रियाशील होना चाहिए, पुस्तकालय तथा रियायती दर पर प्रकाशन, चित्र इत्यादि की सुविधा उपलब्ध रहनी चाहिये।[2]

* संग्रहालय में आने वाली कलाकृतियों का प्रदर्शन एवं प्रकाशन का प्रबन्ध लेना चाहिए। संग्रहालय द्वारा समय समय पर बुलेटिन तथा जर्नल का प्रकाशन किया जाना चाहिए।

* संग्रहालय में विशेष अवसर एवं समय समय पर विद्वानों द्वारा सेमिनार एवं व्याख्यान का आयोजन कराना चाहिए तथा संग्रहालय द्वारा समय-समय पर

---

1. सिंह अरविन्द कुमार, संग्रहालय विज्ञान, ग्वालियर 1997 पृष्ठ संख्या 117
2. राणाशीतल जर्नल्स-भारतीय संग्रहालयों का शैक्षणिक पक्ष PP 179

शैक्षणिक भ्रमण एवं जनसामान्य के बीच वार्ता का आयोजन करना चाहिए, साथ ही साथ प्रत्येक शैक्षणिक स्टॉफ को एक शैक्षणिक सत्र हेतु कार्यक्रम का प्रबंधन भी किया जा सकता है।[1]

* संग्रहालय द्वारा उच्च विद्यार्थियों के लिये कैटलॉग, मोनोग्राफ, बुलेटिन आदि का प्रबन्ध किया जाना चाहिये, जिसमें विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर विषय का निर्धारण किया जाता है।

संग्रहालय का प्रकाशन शोध गतिविधियों से जुड़ा होने के साथ ही साथ इसकी स्थिति व्यापक संसधनों एवं कर्मचारियों की योग्यता पर आधारित होनी चाहिये।

* संग्रहालय में प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति की जा सकती है।
* संग्रहालय द्वारा समय-समय पर विविध विषयों जैसे-चित्रकला, धातुकला, प्रस्तर कला, मूर्तिकला, प्लास्टर शिल्प कला आदि पर रिफ्रेशर कोर्स का आयोजन करना चाहिये। इस कार्य के लिये निम्न सुझाव हैं-

∘ संग्रहालय प्रदर्श और पूर्वाभिमुखी करण व्याख्यान

∘ संग्रहालय में वस्तुपरक तकनीकी शिक्षण

∘ स्थायी संग्रहालय कर्मचारियों द्वारा स्कूली कक्षाओं का प्रेक्षण

∘ संग्रहालय में गाइड का प्रबंध

∘ विद्वतजनों द्वारा व्याख्यान आदि।[2]

डॉ. मनमोहन सिंह ने 200 वीं वर्षगांठ के अवसर पर कोलकाता संग्रहालय शिक्षा के विषय के रूप में संग्रहालय की वर्तमान व्यवस्था पर नाखुशी जताई कहा कि "शिक्षा संस्थान के रूप में विकास करने के लिये भारतीय संग्रहालयों को अपनी रणनीति व नजरिया बदलने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि आज संग्रहालय के अर्थ में एक अर्थ और जुड़ गया है। कला की शिक्षा का भवन....."

यह शिक्षा के प्रसार का संस्थान है। यह एक संस्थान है, जिस पर प्रत्येक भारतीय गर्व कर सकता है। उन्होंने अपील की कि वह खुद (संग्रहालयों) को बदलाव और विकास के एजेंट के रूप में देखें तथा स्वयं को ज्ञान के प्रावधान कर्त्ता के रूप में देखना चाहिए तथा समान संस्थाओं के साथ साझेदारी करना

---

1. श्रीवास्तव कमल एवं संगीता-पूर्ववत-PP 35.36
2. चौधरी डी. राम एवं अन्य संग्रहालय अनुशीलन दिल्ली 1965, PP 69

चाहिये। आज भी दुनिया में सिर्फ संग्रह काफी नहीं है। एक संग्रहालय को अपने संग्रह का दस्तावेजीकरण अध्ययन और विश्लेषण करना चाहिये। किसी अन्य संग्रहालय में संरक्षित समान संग्रह से तुलना करनी चाहिये। उन्होंने प्रशिक्षित कर्मियों के विकास पर जोर दिया और कहा दुर्भाग्य से म्यूजोलॉजी विषय को अब तक देश में नजर अदांज किया गया है दुनिया भर में संग्रहालय पर्यटन के केन्द्र बनते जा रहे हैं और हम भारतीय संग्रहालय को मजबूत अधार संरचन तैयार करनी चाहिये।[1]

संग्रहालय शिक्षा कार्यक्रम-संग्रहालय द्वारा साल्वेज एवं स्थानीय संसाधन प्रबंधन परम्पराओं के सरंक्षण हेतु कार्यक्रम के भोग के रूप में वर्ष 1988-89 में सृजनात्मक कला रूप के प्रदर्शन एवं प्रशिक्षण पर एक शृंखला की शुरुआत की गई है।

करो और सीखो संग्रहालय-शैक्षणिक कार्यक्रम नामक यह शृंखला गृहणियों और विद्यार्थियों को ग्रामीण तथा जनजातीय समाजो में पारंपरिक कला और शिल्पों के व्यावहारिक प्रदर्शन तथा सीखने के अवसर उपलब्ध कराने हेतु उद्देशित थें।

पहला कार्यक्रम-मिट्टी से आकृति नामक-दस दिवसीय कार्यशाला थी। इसमें विद्यार्थियों ने पारंपारिक कलाकारों से मिट्टी के बर्तन बनाना सीखा। 1991-92 में पारंपरिक कलाएँ तथा पुनरावृत्ति नामक विशेष कार्यक्रमों का आयोजन महिलाओं के लिये किया गया। तब से 200 करो और शैक्षिक कार्यक्रम का आयोजन किया जा चुका है। यह मात्र विभिन्न पारंपरिक कला से जुड़े लोगों को ही उजागर नहीं करता बल्कि लोगों में स्थानीय परंपराओं के प्रति जागरुकता के विकास के तहत संबंधित शिल्पकारों को दृढ़ करने का प्रयास तथा प्रतिभागी प्रशिक्षणार्थियों के पारंपरिक समुदाय के मध्य प्रत्यक्ष संवाद के स्थूल का भी सृजन करता है।

- पूरे वर्ष भर देश तथा विदेश से सामान्य वर्ग को तथा विशेष समूहों के लिये प्रदर्शनियों के भ्रमण आयोजित किये जाते हैं।
- सूचना साझेदारी हेतु जनजातीय शोध संस्थान, वन, पत्रकारिता इत्यादि विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं के प्रशिणार्थियों हेतु गाइड सुविधा उपलब्ध कराई जाती है।
- स्कूली बच्चों के लिये विशेष शैक्षणिक कार्यक्रम का आयोजन

---

1. पूर्ववत-डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा दिया गया 'भाषण'

किया जाता है।

- भोपाल तथा आसपास के क्षेत्रों से 50-150 प्रति समूह वर्ग में स्कूल बच्चे संग्रहालय का भ्रमण करते हैं।
- इन बच्चों को मानव आवास एवं पर्यावरण की विषयवस्तु पर जानकारी दी जाती है। तथा इसी विषय वस्तु पर मिट्टी तथा ड्राइंग के माध्यम से रचनात्मक कार्य करने के अवसर भी उपलब्ध कराये जाते है।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में संग्रहालय का शैक्षिक दायित्व संग्रहालय की सर्वोच्च प्राथमिकता शैक्षिक दायित्वों का निर्वहन करना है।

यह विद्यार्थियों सहित सामान्य दर्शकों को शिक्षित करने के साथ-साथ विशिष्ट एवं कला कार्य में साधनारत कलाकारों की कला सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति भी कर सके। इसके लिये अनिवार्य रूप से निम्न कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं।-

* विभिन्न विद्यालयों से विद्यार्थियों के संग्रहालय भ्रमण की व्यवस्था करना
* सामान्य दर्शकों में कला के प्रति रुचि जागृत करने हेतु सार्वजनिक दौरे करना व अन्य कार्यक्रमों का आयोजन करना।
* कलाकारों के प्रलेखन सुविधाओं, शैक्षिक प्रदर्शनियों व कार्यक्रमों द्वारा सेवा प्रदान किया गया।
* व्यावसायिक व विशिष्ट कलाकारों के विशेष अध्ययन हेतु व्याख्यानों व गोष्ठियों का आयोजन करना।

इन शैक्षिक कार्यक्रमों का उद्देश्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्तिगत एवं सृजनात्मक योग्यताओं का विकास करना व क्षमताओं को बढ़ावा देना है। कला मूल्यांकन, कला समीक्षा व कला इतिहास पर प्रारम्भिक व विशेष अध्ययन के लिये व्याख्यान आयोजित किये जाते हैं तथा उन्हें दृश्य व श्रव्य माध्यमों से जोड़ा जाता है। जनसाधारण को दृश्य एवं कला के अर्न्तसम्बन्धों को बुनियादी रूप से समझने हेतु फिल्म शो और टेपरिकार्डेड संगीत की भी व्यवस्था है।

राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय का प्रमुख दायित्व ललित कला के क्षेत्र में गुणवत्ता और उत्कृष्टता का निर्धारण कर उसका संपोषण करना तथा श्रेष्ठता की मान्याताएं निर्धारित कर उसे कायम रखना है। सौन्दर्य परख और शैक्षिक प्रयोजनों को राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालयों के लक्ष्यों एव उद्देश्यों में

परिभाषित न करके सतत् प्रयास भी किये जा रहे हैं। जिससे ये विशिष्ट संस्थान से अर्न्तनिहित होकर व्याप्त हो सके। इन सबसे अधिक संग्रहालय की कलाकृतियों को अति प्रसन्नचित एवं आनंदित होकर दर्शकों के दैनिक जीवन से जोड़कर देखने में उनकी सहायता करता है। जिससे वे माननीय मनोभावों की विशिष्टताओं का साक्षात् रसास्वादन कर सकें।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

* सिंह अरविन्द कुमार, संग्रहालय विज्ञान, ग्वालियर 1997 पृ. संख्या 35-36
* विद्यार्थी एवं चौहान सुरेन्द्र सिंह, हमारी विरासत, संस्कृति विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, पृ. 2
* श्रीवास्तव एस. कमल एवं श्रीवास्तव संगीता, "संग्रहालय विज्ञान एव अध्ययन" वाराणसी, 1998 पृ. स. 33-34
* चौधरी डी. राय एवं अन्य संग्रहालय अनुशीलन, दिल्ली, 1965 पृ. संख्या-69
* शर्मा माधुरी एण्ड डी.पी.शर्मा-म्यूजियम एण्ड न्योजोलॉजी 1984 कादम्बनी प्रकाशन चर्चर इलाहाबाद
* अग्रवाल आर.सी. 1974 आर्गेनाइजेशन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ स्मॉल म्यूजियम
* चौधरी आर एम 1963 आर्ट म्यूजियम डाक्यूमेन्टेशन एण्ड प्रैक्टिकल हैन्डिलिम

पत्रिकाएँ

संस्कृति संधान, भाग 27, नं, 2 जुलाई दिसम्बर-2014 पृ. संख्या 177-180 डैत्फैकूएच 1936 म्यूजियम टेभ्निकस एण्ड फाण्डामेन्टल एजुकेशन पेरिस पत्र-पत्रिकाएं इन्टरनेट, Z न्यूज इत्यादि।

✦✦✦

Saṃskṛta-Vimarśaḥ -2019 (Vol. 15-16) ISSN : 0975-1769

The Mahabharata and the Iliad: A Comparison

1. Dr. Hetal S. Patel
Professor & Head,
Department of English,
Hemchandracharya North Gujarat University, Patan

2. Dr. Dilip C. Patel]
Professor,
Department of Sanskrit& Bharatiya Vidya Bhavan,
Hemchandracharya North Gujarat University, Patan

[अस्मिन् शोधलेखे द्वयोः महाकाव्ययोः तुलना कृता विद्यते। काव्ये समागतानां पात्राणां विषयाणां च मिथो विवेचनम् अभ्यदायि। -सं०]

Abstract:

This paper is an attempt to analyze the two respective epics which have a special place in the Eastern and the Western culture from thematic. stylistic and ethical view poit. This paper is a comparative study of how both the epics represent the respective value systems of their societies. *The Mahabharata* shows that virtue is rewarded and vice is punished. Both the indian and the Greek epics display the gradual transformation that takes place in their lead characters and how their values and world views undergo a process of maturation because of the impact of situations in which views undergo a process of maturation because of the impact of situations in which they are placed. *The Iliad* is an epic which begins with a reluctant warrior i.e. Achilles, who because of this disagreement with Agamemnon refuses to take part in the Trojan War. The epic narrates how various attempts are made to placate Achilles and how the death of his best friend Patroclus arouses his wrath and makes him fight valiantly killing Hector in the war. On the other hand, *The Mahabharata* deals with the reluctant fighter Arjun who refuses to

fight with his kith and kin. It is at this juncture that Lord Krishna, the charioteer gives Arjun the Knowledge of Dharma and Adharma i.e. right and wrong. Lord Krishna teaches him what is rightful duty in the part of *the Mahabharata* known as *Bhagavad-Gita.*

This paper also analyses both these epics and uphold and underpin their ethical message for the world. In the process, the paper examines in detail the hexametric structure of Homer's epic and the various metrical devices adopted by Ved Vyasa in *The Mahabharata.* The paper concludes with observations regarding how value system of these epics is reflected in their respective cultures and literary works of these cultures.

Key words: Epics, Indian culture, Western culture, ancient literature

The Mahabharata and *iliad* and two great epics of two great societies. They are not only two great works of literature but they also represent the Indian and Western cultures and value systems respectively. Both the epics have seminal importance in the foundation of their cultures. Though they have been written before almost 2900 years. both the epics are relevant even today. Many ancient as well as modern writers are inspired and have based thier works on these epics. Here is an attempt to study the similarities and differences between these two foundational ipecs of the East and the West.

Authorship and Period:

The Mahabharata and *Iliad* both have origin in the oral tradition of their respective societies. The stories of both the epics were already known to the common people as myths of their contemporary societies. The incidents described in *The Mahabharata* and *The Iliad* were of historical singnificance so much so that they were chronicled thoroughly in the oral tradition in the concurrent meters of those times.

The myriad of incidents depicted in *The Mahabharata* did actually take place and the great poet Maharshi Vyas had to develop a formal medium to write down the same in the form of an Itihasa i.e. History. Initially, Vyasa told the main story of the royal house of Kuru to Ganesha, Jaimini, Vaishampayana and Suka. He called it *Jaya* i.e. a story of *Triumph.* It is believed that Vyasa's dictation of

the story of *Jaya* took almost three years and it contained sixty chapters. But almost all of them were lost in time. Only one part of it which was with Vaishampayan was preserved. It was written in 8,800 shlokas. Vaishampayana narrated the same to King Parixit's son Janmejay which came to be known as *Bharata.* The story of *Bharata* was later on told by Upashrava elaborately to Shaunak and other in almost 1,00,000 shlokas which is considered today as *The Mahabharata.*

On the other hand, Greek epic *Iliad* is widely accepted to have been written by Homer. The verses in the epic were widely known to the people of greece in oral form. It was Homer who systematically produced these verses in a uniform meter as a single work in written form. The poem consists of 15693 lines in Hexameter verse. Thus, The issue of the authorship of The *Mahabharata* is more complicated in comparison to the Greek epic. It evolved gradually from 8800 shlokas to 24000 and later to 1,00,000 shlokas. The *Mahabharata* is evolved basically from an Itihasa i.e. history, lineage of the Royal family of the great king Bharata, whereas *The Iliad* describes a war in a grand style. There are plenty of characters in The *Iliad* too, but all of them are narrated as part of the great war only.

Both the epics are believed to have been written during almost the same period in two different corners of the world. Most critics in the West agree that *The Iliad* would have been composed between 725 BC to 675 BC. According to Bernard Knox,

"The most likely date for the composition of the *Iliad* is the fifity years running from 725 to 675 B.C. That is also the time to which the earliest examples of Greek alphabetic writing can be dated"[1] (**Fagles, 5**).

Thought the date of compostion of *The Mahabharata* is not as clear as *The Iliad,* Most scholars of Sanskrit commonly agree with a view that it would have been composed between the 8th to 9th centuries B.C.

"Putting a date to the *Mahabharata,* however, is a difficult task. The fact that the epic itself has been revised many times has not helped matters. Some exparts have concluded that epic was composed between the 8th and 9th centuries BCE. There are also some who suggest that the text probably reached its final form in the early Gupta period, circa the 4th century CE"[2](DK, 21).

Another similarity between the two epics is that both of them are based on the actions which took place in real history. The Trojan War and the battle of Kurukshetra actually took place in history and it is now proven by excavation by Schliemann at Hissarlik in the case of the Trojan war: "Schliemann's excavations at Troy and Mycenae, as well as other sites mentioned in Homer, revealed a previously unsuspected Bronze Age civilization[3] (Fagles, 23). The events narrated in the Indian epic are attempted to analyze by various methods such as archaeoastronomy, Historical astronomy and archaeology by academics and historians to estimate a date for the events.

"Analysis of astronomical data has led to the conclusion that the epoch within which these events occurred began with a grand planetary conjunction at the beginning of 3102 BCE. This led scholars to deduce that the Kurukshetra war took place in about 3137 BCE. Excavation at the probable sites, where the events are believed to have taken place, have thrown up Painted Grey Ware arte facts that point towards a date sometime between 1000 and 400 BCE"[4] (DK, 20).

This is the reason that the various incidents and episodes depicted in both these epics are familiar to the contemporary readers of respective societies through oral tradition.

The plot of *The Mahabharata* is more complex in comparison with the plot of *The Iliad.* The actions narrated in *The Mahabharata* cover almost all aspects of human life, while *The Iliad,* thought it covers the span of ten years, its actions show man's life in and around the battlefield only. The plot of *The Mahabharata* is linear in the sense that its actions are narrated in straight sequence from beginnig, middle and end. Though it covers the depiction of the whole ancestry of the Royal Kuru family, it strictly follows the sequence from the beginning to the end. The Greek epic follows the Greek tradition of epics and begins at the middle of action. It begins with the rage of Achilles, the protagonist; Further, Though it covers the period of ten years, it narrates the Trojan War and incidents related to it in a grand manner. The style of composition of both these epics is different. *The Mahabharata,* as it has been composed and edited many times by various writes, is vivid in its style. It is mostly composed in a descriptive and didactic form. It is in dialogic form that most of the episodes are composed which makes the epic lively to the readers.

The language of *Mahabharata* is pure and at the same time easier to be understood by common readers as it is the Sanskrit language which was used by people for communication during those days. At the same time, the language used in *The Mahabharata* is mature enough to explain and preach serious aspects of human life. The language of *Mahabharata* is free complex structures because of which even a person having little knowledge of Sanskrit can enjoy reading of *Mahabharata.* According to Dr. C.V. Vaidya,

"The language of *the Mahabharata* is distinguished by three characteristics: simplicity, depth and correctness. Simplicity and depth are indeed two things which can rarely be combined"[5] (Vaidya, 60-61).

The Bhagaved Gita is the best example of the real beauty of language used in *the Mahabharata.* It bears deep philosophical thoughts in the simplest language spoken by ordinary people. This is why critics agree and say. "The language of *the Mahabharata* bears the impress of a writer who is the master of a spoken language"[6] (Vaidya, 61).

The story of *The Mahabharata* is mostly told in Anushtub metre and the Upajati metre. The Indian epic is unique in its description and dialogic style. The descriptions in *Mahabharata* are lively, universal and of proper size. it is known for the descriptions of the battlefield.

Thought the Indian epic depicts almost att the Rasas throughout the poem as it covers almost all the aspects of human life in India, it is generally believed that the main rasa of the epic is Shant Rasa because the ultimate goal shown in the poem of human life is Moksha i.e. Salvation. Though *the Mahabharata* depicts war between Pandavas and Kauravas which shows valour i.e. Veer rasa, it ultimately preaches readers to follow Dharma and makes readers readers realize futility of war.

"Likewise in *The Mahabharata.* which has the beauty of a kavya while being in the form of a Shastra, the great sage (Vyasa) has demonstrated that the creation of dispassion is the principal purport of his work, by composing a conclusion that produces a despondent feeling in response to the sorry end of the Vrsnis and the Pandavs, and in doing so he has suggested that what he intended as the

proncipal subject of his poem is the peaceful flavor (Shantarasa) and the human aim characterized by liberation (Moksha)"[7] (Sharma, 176).

There is no equivalent theory in the West which can be compared with the Rasa theory. Therefore, applying the rasa theory to the Greek epic, one comes to a conclusion that the chief rasa in *The Iliad* is tragic i.e. Karuna Rasa.

"Men die in the Iliad in agony; they drop, screaming, to their kness, reaching out to beloved companions, gasping their life out, clawing the ground with their hands; they die roaring, like Asius, raging, like the great Sarpedon, bellowing, like Hippodamas, moaning, like Polydorus. and death is the end: Homer offers no comforting vision of life beyond the grave"[8] (Fagles, 26).

The Iliad the greatness of war and therefore one can also think that it focuses on Shaurya Rasa i.e. Heroic. People in Greece are habituated to wars and therefore wars have become inevitable parts of their lives. As Bernard Knox syas,

"Nevertheless the *Iliad* is a poem that celebrates the heroic values war imposes on its votaries. War has its deadly fascination for those who have grown up in its service.... And though the warrious of *ith Iliad* often rail against their condition, they can also enjoy to the full war's intoxication exctiements"[9] (Fagles, 27).

Analyzing the style of *the Iliad*, it is clear that it strictly follows the Greek tradition of writing an epic. Though the epic deals with only the Trojan War and incidents related to it, it is depicted in a grand style. All the characters in the epic are shown as larger then life. Most of the characters can directly contact their Gods and Goddesses. Even Gods and Goddesses take keen interest in the routine of most of the characters in *The Iliad.*

The Iliad is composed in hexameter verse. The language of the *Iliad* is a little more complex then the language which was used by common Greek people during those days. Gollowing the Greek tradition, Homer uses poetic language which could not be easily understood by readers:

"The language of Homer is of course a problem in itself. One thing is certain: it is not a language that anyone ever spoke. It is an artificial, poetic language- as the German Scholar Witte puts it: The language of the Homeric poems is a creation of epic verse. it was a

difficult language... In fact, the language of Homer was on nobody, except epic bards, oracular priests or literary parodists would dream of using"[10] (Fagles, 11).

What makes Homer's language more difficult is his proclivity to use recurring epithets as pointed out by Millman Parry. Two of the epithets which recur again and again are Man slaying Achilles Swift footed Achilles whereas the cycle of epithets are missing in *The Mahabharata.* Linguistically, the style of *The Iliad* is closer to bardic oral literature. Though the language used by Homer in Iliad was complex and difficult, the Homeric epics were famous and familiar to the ordinary Greeks because of the simplicity, speed and directness of the narrative techniques. The epic was enjoyed by Greeks because it depicted the contemporary Greek life through describing interesting characters in a memorable form. The images of Gods and their involvement in the everyday life of Characters of *the Iliad* made it more interesting:

"The greatness and imposing humanity of the characters-and by the fact that they presented the Greek people, in memorable form, with the images of their Gods and the ethical, political and practical wisdom of their cultural tradition. Homer was thus at once contempoaray in content and antique in form"[11] (Fagles,12).

The reason behind the difference between the styles of these two epics may be that the Indian epic is believed to have been composed and edited various times by different people of different ages while *the Iliad* is composed by only one author. But among all these differences of style and languge, one common thing between these two epics is that both the epics were highly appreciated, accepted and enjoyed by traders of their respective regions because of their universal and familiar theme and interesting narrative techniques used by both the authors.

Theme:

Comparing both these epics thematically, one can observe many similarities as well as differences. *The Mahabharata* basically is a story of an Indian royal family in the beginning and later on it is developed into a story of conflict between Dharma and Adharma and it is shown that यतो धर्मः ततो जयः i.e where there is Dharma,

there is victory. Though *Iliad* is a story of only the Trojan War, it represents the culture of the West. Both the epics are centered on the great wars and both these wars are now historically proven to have taken place in reality. Thus both the epics are based on real incidents.

The theme of *The Mahabharata* is wider and broad in comparison with the theme of the Greek epic. It is widely believed in India that *the Mahabharata* is not an epic or history or a literary work only, it represents human life lived in India. It preaches people how one should lead life by following Dharma like the Pandavas do and at the same time it also shows what one should not do in life. In a wider sense, one can say that *The Mahabharata* is a guiding text for those who want to live a righteous life and want Moksh i.e. salvation. It is full of philosophical paeaching and *The Bhagvad Gita,* which is a part of *the Mahabharata* is considered to be one of the widely read religious texts of Hindus. As Vyasa says in The mahabharata:

ऊर्ध्वबाहुः विरोम्येषः, न कश्चिद् श्रृणोति माम्।
धर्मात् अर्थश्च कामश्च स किम् न सेव्यते;[12]

The leading theme of *The Iliad* is to appreciate valour as the war was an inevitable part of the Greek people. The Greeks had to live a life full of struggle for survival. Thus, the Greek epic not only provided great entertainment but it also proved to be a cultural and moral Grecian history. The Greeks were most concerned with Kleos i.e. honour code attached to a warrior. They lived and died for achieving honour. Kleos was the only way of achieving immortality in a world where only the gods were immortal. In fact, Achilles ponders over this question as to whether he should fight, achieve honour and die honourably or he should avoid fighting and live a long life without honour. Of course, being a Greek warrior, Achilles follows the Greek ethos of fighting and achieving immortal honour through death. Whereas the leit motif of *The Mahabharata* is to live a virtuous, dharmic life. Being a brave warrior like Arjuna or Karna was a bonus what was valued was an ethical life lived according to the precepts of dharma. For emample, in *Mahabharata,* Vidur is not a warrior but is shown to be an ideal man living according to dharma and his precets came to be known as Viduraniti. One must remember that *The Iliad* is a pre-Christian work. The concept of nonviolence

was yet to be worked out following the advent of Christianity. Although a playwright like Euripides and a historiam like Thucydides showed the ultimate futility of wars, the dominant mood during those days was one which valourized valour and bravery.

Characters:

Though both the epics were written in two different regions of the world, one can find many similarities between various characters depicted in both the epics. The influence of myths in both the epics is also common. Even the involvement of various Gods and Goddesses in the routine of characters is also seen in both the epics. The only difference regarding the involvement of Gods and Goddesses is that in *Mahabharata,* Gods are involved in incidents where characters need to be guided to follow Dharma. Thus, their role is to show the path of Dharma to the prominent characters in *Mahabharata.* While in the *Iliad,* one finds that Gods and Goddesses interfere even in routine matters of human beings. Even one can find interesting similarities between Indian and Grecian Gods. For example, one can compare Krishna with Apollo, Indra with Zeus.

Though there were similarities between Indian gods and Greek gods, one can notice difference in their behaviours. The Gods of *Mahabharata* work within an ethical framework to ensure the victory of the righteous. They empathized with their human counterparts as Krishna does with Arjuna. Moreover, in *Mahabharata,* the boundaries between Gods and normal man, i.e. natural and supernatural, between earth and heaven seem to be almost non existing. Indian gods actively participate in the war of Pandava and Kauravas. Similarly, there are many incidents in which even Gods need mortal help in dealing with the Asuras i.e. devils. One incident, for example, is that of Dushyanta who goes to heaven to help Indra in his war against Asuras and it was in his journey back to earth only that he meets his son by Shakuntala at the Ashrama of Marich and is reunited with shakuntala. Thus, the interdependence between two different world is not a strange thing in *Mahabharata.* It is rightly said,

"A constant communication is kept up between the two worlds, and such is their mutual interdependence that each seems to need the, other's help. If destressed mortals are assisted out of their difficultioes by divine interposition, the tables are often turned, and

perturbed gods, themselves reduced to helpless straits, are forced to implore the aid of mortal wariour in their conflicts with the demons"[13] (Kapoor, 1639-40)

The Greek Gods, on the other hand, are detached and indifferent to the moral outcome of an event. For the Indian Gods, a deep adherence to normative ethics and virtue ethics is essential. It is the **raison'd'arte** of their existence. The Greek gods seem to be indifferent to the moral questions; they set in motion an event without ensuring a moral outcome. To use Aristotle's term, they are not interested in the telos or the end of the event. On a whim, an event is set in motion and then the Gods forget the same or are indifferent to the same. May be this is in keeping with the large Greek concept of destiny where morality assures an amorphous shape. The Indian gods and avatars, on the other hand are deeply interested in guiding their human counter parts in leading a full life which flourishes to borrow again from Aristotle. A life can glourish only if it is lived in consonance with virtue and righteousness. The Indian Gods are just not detached watchers but active partakers who prevent good human beings from deviating from the path of ethics and virtue. Thus, Indian Gods in *Mahabharata* are more active and more participatory who themselves act in accordance with virtue unlike the Greek Gods who act out of whim and petulance.

Comparing the characters of both the epics, one can find many similarities among various characters. For example, the protagonist of *The Iliad,* Achilles has many characteristics common found in Arjuna, Karna, Duryodhana and Krishna in *The Mahabharata.* Achilles is the main warrior in the Greek epic like Arjuna is the hero of *Mahabharata* . He, like Arjuna, refuses to fight in the deginning, though the reasons for refusal in both cases are different. Achilles seems to be selfish as his reason behind refusal is personal while Arjuna refuses to fight as hos own family members and teachers and his elders are there in the opposition. Similarly, Achilles's lamentations for Patroclus can be see in Arjuna's lementartions for his son abhimanyu and both fo them become enraged after that. Arjuna lements over his son's dead body and vows to kill Jayadrath on the same day in the same way Achilles also becomes ready to fight for Agamamnon and vows to kill Hector the following day. The only difference between the two is that, Arjuna kills Jayadrath respectfully

and allows to pay last rituals while Achilles, after killing Hector, does not respect the dead body and refuses to allow his father to pay the last rituals. Similarly, Achilles has some characteristics common with Karna in *The Mahabharata* as both of them have powers and skills of warriors but they don't have status of kings. Just as Karna has **kawach** and **kundala** by birth, Achilles also has a Styxovoated body except his heels. It is because of these heels only that Achilles is compared with Duryodhana in *Mahabharata* that both their mothers, Thetis for Achilles and Gandhari for Duryodhana, tried to give immortality by making their bodies invincible. But the heel of Achilles and thigh of Duryodhana remain weak and both of them die because of attacks on those weak parts of their bodies. Achilles can also be compared with Krishna because of the similarity in their deaths.

Similarly, the female protagonists of both the epics namely Helen in *Iliad* and draupadi in *Mahabharata* can be compared. Both of them are exceptionally beautiful and almost all brave and powerful kings want to marry them. The kidnapping of Helen is the main reason for the Trojan war just as Draupadi's vastraharan becomes the chief reason for the war of *Mahabharata.* But a major difference between Helen and Draupadi is that Draupadi represents the Indian values inculcated in an Indian woman. She represents the ethics of a pure Indian woman and is protrayed as a faithful wife to her five husbands. While this faithfulness is not seen in Helen, as she has no objection in submitting herself to Paris after she is abducted by him from her husband Menelaus.

Apart form comparing characters in both the epics, one can compare the lives reflected in them. The major difference in them is that *The Mahabharata,* as said earlier is a long story of a family. The love and affection, respect and responsibility for a family is the key aspect of the Indian epic. It cannot be compared at all with the Greed epic in this matter. Love for domestic life is found everywhere in *The Mahabharata.* Love of a father for his son, be it of Dhrutarastra for his son Duryodhana or of Arjuna for Abhimanyu, love of a husband for his wife, of a mother for his child, of a teacher for his disciple, love between two friends be it of Karna for Duryodhana or of Draupdi for Krishna are unique in *Mahabharata.* Such affection for domestic life is absent in the Greek epic. Respect for family

values in seen everywhere in *the Mahabharata.* Although the *Mahabharata* is an epitome of family values, Homer also to a certain extent shows family values and the bliss of domesticity in the relationship of Hector and his wife Andromache and Hertor's son Asyntax. In fact, Andromache pleads and implores Hector not to fight with Achilles as she would be rendered a widow and their son would become a salve. Hector ever the family man almost weeps and reminds his wife that if he does not participate in the battle, generations of other would laugh at his wife and son. According to Hector, fighting with Achilles and dying in the battlefield is something which would preserve his kleos forever. Hector says goodbye to his wife, kisses his son recognizing the helplessness of his condition. Earlir also Hector wanted to avoid a full scale battle with the Greeks and offers that Paris should fight a single handed combat with Menelaus but that plan ended in disaster. Hecor is the only symbol of a devoted family man in the *Iliad* wheras in the Greek camp the family is not the primary concern as their main warrior Achilles does not even know what family life is comparings his attitude to Arjuna in the *Mahabharata,* we find him to be kind, humane and devoted husband, brother, son and a family man. Arjuna's devotion to Bhishma and Dronacharya is outstanding.

The Mahabharata is a complete set of practical ethics given to human beings for a viruous conduct of life. It shows the ethical ways which can help a human being in avoiding pain and enhanching pleasure. In Greece. avoidance of pain and enhancement of pleasure is a philosophy which was propagated by Epicurus and the influence of Epicurus is not possible on Homer as Epicurus came out with his philosophy of virtuous pleasure much later than Homer. In India,in the post *Mahabharatan* era, the way of avoiding dukha by living an ethical life and by cultivating mindfulness has also been popularized by Gautam Buddha. *The Mahabharata* is not only a guide of practical ethics but it also probes situational ethics as seen in the conduct of Krishna, normative ethics which were in operation during those times. *The Mahabharata* also explores deeper philosophical questions like what constitutes the self, does selfhood give us a free agency. Is there free will available to an individual? The all encompassing question of what constitutes a person's position in the vast cosmos of things (Virat svarupa of Lord Krishna). It also addresses the

complex issue of Internal Time, as opposed to the human time. Besides, the *Mahabharata* also explores in detain questions like what should be the political philosophy of the ruler towards the ruled?, the duty of a house holder to his family, the duty of a citizen to his nagar, and the duty of a soldier to his state. It also deals with the moral philosophy of friendship which in ancient Greece, Aristitle in his Nicomanchean ethics considers a supreme quality for the happiness of human beings in gereral. In *The Mahabaharata,* the friendships of Duryodhana and Karna, Krishna and Sudama, Krishna and Draupadi, Krishna and Arjuna have become immortal. It also lays down ethical conduct for fighting a battle. Some of these ethical ideas like not hurting an unarmed man, respect for the wounded and the sick, respect for women are values which are accepted even today by modern societies. *The Iliad,* on the contrary, an epic of valour does not lay down in detail rules and regulation concerning the conduct of a fair war. For the warriors of *Mahabharata,* even war has to be conducted in a spirit of its own Dharma. Whereas the *Iliad,* which begins with the wrath of Achilles is a poem centered around the coercive power of force as pointed out by the French philosopher simon Veil. *The Mahabharata* ends with the salvation of the Pandavas, *the Iliad* ends with the sack of Troy and the death of Hector. *The Mahabharata* ends on a higher metaphysical plane, whereas in the *Iliad,* Homer perhaps is pointing out tongue in chick that prosperous and ordered cities like Troy which values family life should also have an equal amount of force to protect their civilization. This is a warning which has time and again proved true because civilizations without equal force to protect themselves are consigned to the dustbins of history. Although Homer's epic shows the ugly side of war, at the same time Homer poses a caveat that any civilization worth its name should be able to protect itself unlike Troy.

One of the major differences between these two great epics is that *The Mahabharata* raises a moral and ethical dilemma through the predicament of its various characters who are torn between their moral, under pinnings and the demands meet by the reality of human existance. For example, Arjuna, Bhishma, Drauna are pulled in opposite directions between their Dharmik/ Ethical call and the reality in which they find themselves placed. The *Mahabharata,* thus, shows

the complex truth that ethical idealism might clash with the humdrum of daily existence. But the greatness of *Mahabharata* lies in the fact that by the *Mahabharata,* esp. after the discourse of Krisna and Arjuna in Bhagavad Gita, the ethical dilemma get resounding, repled and a resolution to the puzzle of exostence is pointed out by Lord Krishna when he preaches that our attachment towards our righteous duty should trump all other considerations. The *Iliad,* on the contrary, begins with the wrath of Achilles and the ego clash between Agamemnon and Achilles. The *Iliad* does not concern itself with the opposite pulls of moral dilemma and real existencs. Looking at from the ethicalperspective, the whole of the *Mahabharata* is a great meditation on morality versus reality and ultimately the ways in which life could be led by adhering to a virtuous life as demanded by Dharma. Its ultimate teaching lies in following an etical code which upholds Dharma. The *Iliad,* on the contrary, is more concerned about showing the life negating consequence of war and the futilty of violence which does no good to the conqueror and the conquered because death is the ultimate reality for both Hector and Achilles.

Through the examples of Lord Krishna's actions like breaking rules of war in killing Karna, in helping Arjuna in the killing of Jaydrath, in the case of Gadayuddha of between Bhima and Duryodhana, the *Mahabharata* also Justifies practing of situational ethics whereby a less virtuous action resulting in greater good is permissible. In the western scheme of things, this is known as utilitarianism whereby the justness of an action is decided on the basis of the amount of happiness it brigs to the greatest number of people. Many of Krishna's sctions would fit in with a consequentialist reading of the *Mahabharata.* A John Stuart Mill or a Jeremy Bentham might agree with such a reading of *Mahabharata* but a reader like Mahatma Ghandi would not agree with such a reading as he believed in the goodness of the means and the ends.

Conclusion:

To conclude, a comparative study of the two epics makes it abundantly clear that the compass of the *Mahabharata* is vast showing us the complete values which guide life in the Indian context. The *Iliad,* on the contrary, is a snapshot of a long and tedious battle where scope for didactic elements like the great discourse of Shri

Krihna in *Mahabharata* is not there. As a result of which the world of *Iliad* remains smaller than that of the *Mahabharata.* The *Mahabharata* takes within its stride moral philosophy, theology, ethics, politics, inter and intra familial relationships, and many other reevant issues which continue to mystify and puzzle human existence. The world of *Mahabharata is* autonomous, complete in it and as the famous Indian saying makes it clear that:

यदिहास्ति तदन्यत्र
यन्नहास्ति न कुत्रचित्।

(*i.e* that which is found here (in Mahabharata) is found everywhere else; which is not found here, is not found anywhere else.)

Citations:

1. Homer. *The Iliad.* Transalated by Robert Fagles, Penguin classics, 1990.
2. D.K. *The Illustrated Mahabharata: The definitive Guide to Indias Greatest Epic.* India: DK, 2017.
3. Homer. *the Iliad.* Translated by Robert Fagles, Penguin classics, 1990.
4. D.K. *The Illustrated Mahabharata: The definitive Guide to Indias Greatest Epic.* India: DK, 2017.
5. Vaidy, C.V. *The Mahabharata A Criticism.* Bombay: A.J. Combridge And Co.,1905.
6. Ibid
7. Sharma, Arvind, ed. *Essays on the Mahabharata,* Delhi: Motilal Banarasidass Publshers Private Limited, 2007.
8. Homer. *The Iliad.* Translated by Robert Fagles, Penguin Classics, 1990.
9. Ibid.
10. Ibid.
11. Ibid.
12. *Swrgarohan Parva, 4/49-50.*
13. Kapoor, Subhodh, ed. *Encyclopaedia of Indian Heritage,* New Delhi: Cosmo Publications, 2002.

References:

Badrinath, Chaturvedi. *The Mahabharata: An Inquiry in the Human Condition.* New Delhi: Orient Longman Private Limited, 2006.

D.K. *The Illustrated Mahabharata: The Definitive Guide to Indias Greatest Epic.* India: Dk, 2017.

Homer. *The Iliad,* Translated by Robert Fagles, Penguin Classics, 1990.

Kapoor, Subhodh, ed. *Encyclopaedia of Indian Heritage,* New Delhi: Cosmo pubications, 2002.

Rutherford, Richard, *Classical Literature A Concise History.* U.K.: Blackwell Publishing, 2005.

Sharma, Arvind, ed. *Essays on the Mahabharata,* Delhi: Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, 2007.

Vaidya, C.V. *The Mahabharata A Croticism.* Bombay: A.J. Combridge And Co., 1905.

Vaidya, Parashuram Lakshman, ed. *The Harivamsa.* Vol.I., Poona: B.O.R.I., 1969.

✦✦✦

संस्कृत-विमर्शः 2019 (अङ्कः 15-16) ISSN : 0975-1769

वैयाकरणनये लक्षणावृत्तिविचारः

-डॉ० अम्बरीशकुमारमिश्रः
शोधच्छात्रः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

[प्रस्तुतेऽस्मिन् शोधपत्रे लेखकेन वैयाकरणशास्त्रोदितः लक्षणावृत्ति-विचारः चतुर्विधनिमित्तद्वारा स्फुटं प्रदर्शितः। -सं०]

लोकोऽयं ब्रह्मणोऽलौकिककृतिरस्ति। "उभयप्राप्तौ कर्मणि"[1] इति सूत्रोदाहरणे आचार्यभट्टोजिदीक्षितेनोक्तम् "विचित्रा जगतः कृतिः हरेर्हरिणा वा"[2]। अत्र लोके यावज्जीवः शक्तिसम्पन्नो न भवति, तावत्स्वकार्यसाधने समर्थोऽपि न भवितुमर्हति। शैवागमादौ शक्तितत्त्वस्याऽतीव माहात्म्यं वर्णितं वर्तते। यथा शक्तिसम्पन्नजीव एव स्वकार्यसाधने समर्थः तथैव शक्तिसम्पन्नः शब्दोऽपि स्वार्थप्रतिपादने समर्थो भवतीति सर्वजनीनसिद्धान्तो वर्तते। अर्थबोधनाय शब्दप्रयोग इत्यस्य तात्पर्यम् अर्थज्ञानाय शब्दमात्रस्य प्रयोग इति। नैयायिकाः साधुशब्देष्वेवार्थबोधकतामङ्गीकुर्वन्ति। यथोक्तं हरिणा–

ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।
तादात्म्यमुपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः[3]॥

तेषाम्मतेऽपभ्रंशात् यत्र कथञ्चिद् अर्थबोधो भवति, तत्र साधुशब्दस्मरणद्वारा शक्तिभ्रमादेव बोधः। परन्त्वत्रविषये साध्वसाधुसर्वविधशब्दा अर्थप्रत्यायने समर्था भवन्तीति वैयाकरणानामुद्घोषो वर्तते। भगवता भाष्यकारेण महाभाष्यस्य प्रस्तावना-रूपपस्पशाह्निके शाब्दबोधप्रसङ्गे स्वकीयं मतमुक्तम्-"एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देन चाऽपशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवाऽर्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति"[4]॥ वाक्यपदीये आचार्यभर्तृहरिरप्याह–

---

1. पणिन्यष्टाध्यायी 2/3/66
2. सिद्धान्तकौमुदीकारकप्रकरणं पृ.सं. 687 (बालमनोरमातत्त्वबोधिनीसहिते)
3. वाक्यपदीयं ब्रह्मकाण्डम्-का.स. 150
4. पस्पशाह्निकमहाभाष्ये पृ.सं. 47 (आचार्यमधुसूदनमिश्रप्रकाशहिन्दीटीकासहिते)

पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः[1]॥

अत्र विषये शाब्दिकशिरोमणिनागेशभट्टोऽपि वदति–"सा च शक्तिः साधुष्विवापभ्रंशेष्वपि शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्"[2]॥ निष्कर्षरूपेण साध्वसाधुसर्वविधशब्दप्रयोगेऽर्थप्रत्यायनं नितरां सिद्ध्यति। तत्र साधुशब्दप्रयोगेणार्थज्ञान-पुरस्सरादृष्टसिद्धिर्जायते, किन्तु असाधुशब्दप्रयोगेणार्थबोधपुरस्सरः प्रत्यवायो भवतीति विशेषः।

तथोक्तं भाष्यकृता–

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्[3]॥

वैयाकरणानाम्मते शब्दस्यार्थप्रत्यायने स्वाभाविकी शक्तिर्वर्तते। तथाहि–

इन्द्रियाणां स्वविषयेषु अनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैं शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा[4]॥

सम्प्रति शाब्दबोधं प्रति कार्यकारणभावविषये विचार्यते। तद्धर्मावच्छिन्नविषयक-शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टंज्ञानं हेतुः अत्र कार्यकारणभावसम्बन्धे कारणकोटिप्रविष्टा वृत्तिः कतिविधेति जिज्ञासायाम् अनेकेषाम् आचार्याणाम् अनेकानि मतानि पुरतः पतन्ति।

वृत्तिस्त्रिधेति साहित्यशास्त्रमर्मज्ञाः विद्वत्तल्लजाः प्रतिपादयन्तोऽनुमोदितवन्तः। नैयायिकास्तु शक्तिर्लक्षणेति द्वे शक्ती मन्यन्ते। वैयाकरणास्तु शक्तिर्लक्षणाव्यञ्जना इति त्रिविधवृत्तिविषये विवदमाना लक्षणाऽप्रसिद्धशक्तिरेवेति भणन्ति। अत्र विषये नैके वैयाकरणाः नैकानि मतानि प्रस्तुवन्ति। तत्र केषाञ्चिद् व्याकरणशास्त्रसमुपासका-नामाचार्याणां मतानां संग्रहो वर्तते। यद्यपि भगवता पाणिनिनाष्टाध्याय्यां न कुत्रापि कण्ठरवेण लक्षणावृत्तिविषये किञ्चिदप्युक्तम्। तथापि पाणिनिविनिर्मितसूत्रेषु लक्षणावृत्ति-स्वरूपमवलोक्यते। तथाहि– "पुंयोगादाख्यापाम्"[5] इत्यत्र लक्षणार्थप्रतिपादनार्थं लक्षणा-स्वरूपं ध्वनितं भवति। पतञ्जलिः पुंयोगादाख्यायामिति सूत्रव्याख्यानावसरे पाणिनेरभिप्रायं प्रकटीकुर्वन्नाह– "प्रष्ठस्य स्त्री ब्राह्मणस्य स्त्री इत्यादिष्वर्थेषु प्रष्ठब्राह्मणादिभिः

---

1. वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डम्-का.सं. 154
2. परमलघुमञ्जूषा पृ.सं. 41 (आचार्यलोकमणिदाहालहिन्दीटीकासहिते)
3. महाभाष्यपस्पशाह्निके पृ.सं. 12 (आचार्यमधुसूदनमिश्रहिन्दीटीकासहिते)
4. वैयाकरणभूषणसारे पृ.सं. 315 (प्रभादर्पणटीकासहिते)
5. पाणिन्यष्टाध्यायी 4/1/48

स्त्रीत्वस्याख्यायां पुंयोगे ङीष्प्रत्ययो विधीयते, येन प्रष्ठी, ब्राह्मणी इत्यादिशब्दानां निष्पत्तिर्जायते" इति।

अत्राशङ्का जायते यत् प्रष्ठब्राह्मणादिशब्दाः मूलतः पुँल्लिङ्गाः भवन्ति। ये शब्दाः मूलतः पुँल्लिङ्गाः सन्ति कथं स्त्रीलिङ्गे भवितुं शक्नुवन्तीति यतः पाणिनीयमते "तस्येदम्"[1] इति सम्बन्धस्य स्वरूपं वर्तते। पुरुषस्यात्मा भिन्नः स्वतन्त्रश्च वर्तते, तथैव स्त्रियाऽपि भिन्नः स्वतन्त्रश्चात्मा वर्तते तर्हि उभयोर्मध्ये तस्येदमित्याकारकसम्बन्धः कथं सम्भविष्यतीति चेन्निवार्यते आपत्तिरियं भगवता पतञ्जलिना सम्बन्धस्यान्यत् स्वरूपं वर्तते पाणिनिमते, तत्स्वरूपं किमिति जिज्ञासायामाह योग्यतारूपसम्बन्धः। अत्र पाणिनेः तात्पर्यं बाधितं वर्तते तथा च तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणायां बीजं वर्तते। पाणिनितात्पर्यम् अवगम्य व्याख्येयं भगवता पतञ्जलिना विहिता। अत एव पाणिनिसम्मतलक्षणावृत्तिर्वर्तत एव। योग्यतारूपसम्बन्धम् आश्रित्य कथं दोषनिरास इति चेदुच्यते योग्यतारूपसम्बन्धं भगवान् पाणिनिः "तदर्हति"[2] "तदर्हम्"[3] इत्युभाभ्यां सूत्राभ्यां परिभाषयति। सूत्राभ्यामाभ्यां विनिश्चीयते यत् पदार्थद्वयस्य मध्ये योग्यता सम्बन्धो भवति। भगवान्पतञ्जलिस्तस्येदमित्याकारकसम्बन्धे विप्रतिपत्तिं समुद्भाव्य तस्या अपनयनाय "सोऽयम्" इत्याकारकसम्बन्धस्य कल्पनां करोति। उपर्युक्तव्याख्यान-मवलोक्येदमनुमातुं शक्यते यत् भगवान्पाणिनिः पुंवाचकशब्देन पुंयोगे स्त्र्याख्यायां ङीष् इति स्त्रीलिङ्गबोधकप्रत्ययं विधाय लक्षणाशक्तिम् अङ्गीकरोतीति। आचार्यभट्टो-जिदीक्षितोऽपि लक्षणाशक्तिमङ्गीकरोति। प्रौढमनोरमायाः अच्सन्धिप्रकरणे इगादि-प्रत्याहारेण केषां वर्णानां बोधः स्यादिति प्रसङ्गे आचार्यदीक्षितो भणति "प्रत्याहारग्रहणेषु तद्वाच्यवाच्ये निरूढा लक्षणेति[4]"। "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" अत्र व्याकरणसम्प्रदाये मन्यते, तेन सर्वोत्कृष्टप्रमाणं भगवतः पतञ्जलेर्भवति। सम्प्रति भगवतः पतञ्जलेर्मतम-वलोकयामः। "पुंयोगादाख्यायां" इति सूत्रव्याख्याप्रसङ्गे आचार्यपतञ्जलिः तस्येदमिति सूत्रस्य व्याख्यापुरस्सरं लक्षणास्वरूपमाह, "अथवा पुनरस्तु तस्येदमित्यनेनाभिसम्बन्धेन। ननु चोक्तं पुंयोगादाख्यायां तद्धितलुग्वचनमिति। नैष दोषः। नावश्यमयमेवाऽभिसम्बन्धो भवति तस्येदमिति। अयमप्यभिसम्बन्धोऽस्ति सोऽयमिति। कथं पुनरतस्मिन् स इत्येतद्भवति। चतुर्भिः प्रकारैः अतस्मिन् स इत्येतद्भवति। तात्स्थ्यात्ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तत्साहचर्यादिति। तात्स्थ्यात्तावत्। मञ्चाः हसन्ति। गिरिर्दह्यते। ताद्धर्म्यात्। जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी

---

1. पाणिन्यष्टाध्यायी 4/3/120
2. पाणिन्यष्टाध्यायी 5/1/63
3. पाणिन्यष्आध्यायी 5/1/117
4. प्रौढमनोरमा (शब्दरत्नभैरवीभावप्रकाशसरलाटीकासहिते) प्र.सं. 124

ब्रह्मदत्त इत्युच्यते। तत्सामीप्यात्। गङ्गायां घोषः। कूपे गर्गकुलम्। तत्साहचर्यात्। कुन्तान् प्रवेशय यष्टीः प्रवेशयेति[1]"। उपर्युक्तभाष्यस्यायमभिप्रायो यद् यदा कश्चिच्छब्दोऽभिधावृत्या वक्तृविवक्षितमर्थं बोधयितुमसमर्थो भवति, तदाऽर्थप्रत्यायनाय लक्षणावृत्तेराश्रयो गृह्यते। अनया वृत्या प्रतिपादितोऽर्थो लक्ष्यार्थ उत गौणार्थ उच्यते, लक्ष्यार्थप्रतिपादकश्च शब्दो लाक्षणिको भवति। एतस्याः वृत्ते चतुर्विधानि निमित्तानि सन्ति तथा हि–

(1) तात्स्थ्यादिति–तात्स्थ्यम्=आधाराऽधेयभावसम्बन्धः। यत्र किञ्चित् वस्त्वाधीयते स तस्याधार, तथा चाधारे यद्वस्तु तिष्ठति तदाधेयमिति। अयमेवाधाराधेय-भावसम्बन्धो लक्षणायाः प्रयोजक इति। आधारे आधेये चान्योन्यगुणारोपो विधीयते। यदा कश्चिमश्चिद् लाक्षणिकपदप्रयोगे शक्यार्थः साक्षात्संकेतितार्थनिष्पन्नो भवति, तदा लक्षणावृत्त्या मुख्यार्थेन सम्बद्धार्थस्यावबोधो भवति। प्रयुज्यमानलक्षणाया उदाहरणद्वयाचार्यै-रूपात्तमिति। 'मञ्चा क्रोशन्ति, गिरिर्दह्यते'

(2) ताद्धर्म्यादिति–ताद्धर्म्येणापि निमित्तेनान्यस्मिन्नन्यस्य वस्तुनो धर्मस्यारोपो भवति। अत्र गुणसाम्ये अथवा क्रियासाम्ये आरोप्यते। अत्रोदाहरणम्–गौर्वाहीकः सिंहो माणवक इत्यादि। गौर्वाहीक इत्यत्र वाहीके गोत्वारोपो जाड्यादिगुणरूप-साधारणधर्ममाश्रित्य क्रियते, तथैव सिंहो माणवक इत्यत्र माणवके सिंहत्वरोपः क्रौर्यादिगुणरूपसाधारणधर्ममाश्रित्य क्रियते।

(3) तत्सामीप्यादिति–यत्राधाराधेयभावसम्बन्धस्यानुपपत्तौ सामीप्यरूपनिमित्तेन मुख्यार्थभूतप्रवाहादिसम्बद्धे तीरादौ गङ्गागताशैत्यपावनत्वादयो धर्मा आरोप्यन्ते तत्रेयं लक्षणावृत्तिः। अस्योदाहरणम्–'गङ्गायां घोषः' कूपे गर्गकुलम् इति। गङ्गायां घोष इत्यत्र सामीप्ये तीरे लक्षणामुपपाद्य तीरे घोष इति बोधः, तथा च कूपे गर्गकुलमित्यत्र कूपसमीपे लक्षणावृत्तिमुपपाद्य कूपसमीपे गर्गकुलमिति बोधः।

(4) तत्साहचर्यादिति–साहचर्यप्रयोज्यलक्षणा 'कुन्तान् प्रवेशय' 'यष्टीः प्रवेशय' इत्युदाहरणोपादानेन भगवत्पतञ्जलिराह। कश्चिद् व्यक्तिविशेषः किमपि वस्तु धारयति तदा तद्वस्तु साहचर्येण तद्वस्तुनाम्ना स लक्ष्यते। न ह्यत्र अचेतनेषु कुन्तयष्ट्यादिषु प्रवेशनक्रिया सम्भवतीति।

यद्यपि पूर्वाचार्याणां भगवत्पतञ्जल्यादीनां व्याख्यामधिगम्य महावैयाकरण-नागेशभट्टोऽपि लक्षणायाः व्यवस्थितं स्वरूपमाह–[2] "अन्वयानुपपत्तिप्रतिसन्धानञ्च लक्षणाबीजम्। वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। अन्यथा गङ्गायां

---

1. बाम्बे गवर्नमेन्ट सेन्टर बुक डिपो किलहॉर्न संस्करणम् (1883) पृ.सं. 218
2. परमलघुमञ्जूषा (आचार्यलोकमणिदाहालहिन्दीटीकासहिते) पृं.सं. 62

घोष इत्यादौ घोषादिपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिस्तावताऽप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारादिति"। तथापि तन्न इत्युक्त्वा लक्षणावृत्तिं खण्डयति। तथा हि- "तन्न सति तात्पर्ये 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः[1]' इति भाष्याल्लक्षणाया अभावात्, वृत्तिद्वयाऽवच्छेदकद्वयकल्पने गौरवात्, जघन्यवृत्तिकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च।

कथं तर्हि गङ्गादिपदात् तीरादिप्रत्ययः? भ्रान्तोसि। सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचकाः इति भाष्यमेव गृहाण। तथा हि शक्तिर्द्विविधा–प्रसिद्धाऽप्रसिद्धा च। आमन्दबुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम्। सहृदयहृदयमात्रवेद्यात्वमप्रसिद्धात्वमिति। तत्र गङ्गादिपदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिस्तीरादौ चाऽप्रसिद्धा इति किमनुपपन्नम्"।

आचार्यनागेशभट्टस्योपर्युक्तव्याख्यानेन निश्चीयते वैयाकरणाः गौरवात् सर्वे सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये इति सिद्धान्ताच्च लक्षणावृत्तिं सिद्धान्तरूपेण नैवाङ्गीकुर्वन्तीति दिक्।

✦✦✦

1. परमलघुमञ्जूषा (आचार्यलोकमणिदाहालहिन्दीटीकासहिते) पृ.सं.73

ग्रन्थ-विमर्शः
Book Review

Vada in Theory and Practice: Studies in Debates, Dialogues and Discussions in Indian Intellectual Traditions

(Author : Radhavallabh Tripathi, Publication : 2016 : Indian Institute of Advanced Studies, Shimla & DK Printworld, Publishers of Indian Traditions, Number of Pages: 410)

Shri Anand Prakash &
Dr. Balram Shukla
Delhi University, Delhi

लेखोऽयं प्राचीनकाले बिद्वान्सः कथं विचारान् कुर्वन्ति स्म। स्तेषां विचाराणां नाम वाद इति आसीत् एतस्य वादस्य जयः प्रकाराः आसन् वादः विवादः संवादश्च। लेखकेन अस्याः प्राचीन परम्परायाः स्वलेखमाध्यमेन विचारः कृतः।

The book under reference embodied one of the scholarly work of Dr. Radhavallabh Tripathi, a well-known and profound scholar of Indian intellectual tradition and prolific writer. The book has been organized around 7 chapters covering the nature of Vada, brief history of Vada, vadashastra: Theories of debates, dialogues and discussions, vada in Darsana: Philosophical debate; Vada in Dharma: Socio-political and legal debates, vada in literary Theory and Literature; and Vada in modern age. The book contains informative and insightful analogies with suitable illustrations to support the various contentions and point of view. The diversity, multiplicity and multimodality of Indian Intellectual knowledge tradition have been presented in a comprehensively fascinating manner.

Debates, discussions and discourse of various forms and contents have been the corner stone of Indian intellectual tradition and enabled Indian society to deepen its democratic tradition in the spirit of respecting the multimodality and multitude of voices. The first chapter of "Nature of Vada" categorically asserts the position of author. The rich repertoire of debates in terms of vada in Indian tradition are nurtured, nourished and transmitted to future generations in India to build the culture of plurality and diversity. Emphasizing the dual tradition of logic promoting the idea of debates, discussion and discourses whereas the other tradition is closer the idea of evidences-(Pramana). The later is closer to the idea of scientific knowledge drawn from the empiricism. The epistemological, and ontological assumptions of both are based on different foundations of knowledge. The philosophical edifice of Vada tradition is constructed towards the attainment of true knowledge leading to salvation. It is an approach to dispel the darkness of ignorance through the act of speech where words are considered illuminators and carrying the potential of creating enlightened understanding and finally renunciation.

The tradition of Vada including (Debate, Dialogue, Discussion and Discourses) emphasize the appropriate and exact use of words and expressions equated with quest for spiritual pursuits. Drawing analogy from the knowledge tradition of Samkhya, Carvaka, and Yoga philosophical knowledge repertoires, the author has convincingly created the vada tradition pertaining to science of reviewing.

Differentiating the three terms like Vada, Vivada and Samvada, the author has made it more inclusive terms which combines, content, context, temporality, persons involved and spaces to represent the various shades like samvada and vivada. For example, when two scholarly persons are in dialogue with each other in the presence of an assembly like in Mahabharat, on a supra-intellectual plane, then it may be called Samvada. Similarly, when voices of protest and dissent are allowed to be expressed and attended with some respect, then it acquires the status of vivada.

The tradition of Vada was also used to challenge the imposed boundaries and segmentations either related to social practices or knowledge traditions. Covering the comprehensively impressive gamut of dimensions of Vada tradition, the author has argued convincingly

the functionality of Vada in raising issues of morality, oppression, status and caste related discriminations in ancient Indian context. The meaningless arguments and distorted reasoning have been declared misdirected throws of words. Giving details of Sabha, the places where Vada can take place which acquired the status of an institution, the types of sabha, and various other components, like ethics of vada have been given with graceful clarity.The vada clearly enunciates a practice of expression with possibility of arriving at truth. The other formats of Vada having negative overtones of querrels, vivada, vilapa, soka, matsarya, mana, abhimana, and paisunyabe avoided. In other words, the negative emotional overtones intended to reflect a sense of attachment with ego objects be avoided. In particular, the emotions of verbal combat, debate in a form of quarrel, sorrow, pride, egoistic, backbiting be put to rest as these are against the fundamental spirit of Vada. Covering a range of issues in the first chapter by drawing analogy and supportive arguments from various traditions of knowledge, the author has highlighted the dimensions of sandhi (agreement with disagreements), language and stylistics, violence of speech, ego pride and prejudice with all its possible shades in Indian classical tradition of knowledge have been well articulated depicting all the important facets of Vada Tradition.

The second chapter entitled - A Brief History of Vadaö covering 100 pages is the longest chapter of the book. It has turned out to be extremely rich in information covering within the historical antecedents dating back to the age of revelations (around 3000 BCE to 500 BCE), also known as the Mantra Age. It was fascinating to learn that how words of wisdom emanating from the spoken words of seers were gradually replaced by logic, which is also taken as methods of discovering meaning of these mantras by arguments, confutation, and investigation in order to arrive at the final version of truth. It gave origin to Anvikshiki a foundation of scientific thinking between first century and fifth century BC. Titled as Atmavidya, the great thinkers in Indian tradition like Kautilaya making strong recommendation that that Anvikshiki be studied along side the Vedas. Having classified three groups of knowledge systems, namely, Samkhya, yoga, and Lokayat as Anvikshiki-an approach toward attaining knowledge. Providing a lucid illustration of all the three stages and ages of knowledge traditions, namely, Mantra Age, and

Tarka Age, Vistara Age (The Age of diversification), the scholarship is evident in specific illustrations, relevant excerpts from the ancient narratives. Particularly looking into the details of the Mantra Age where two modalities of knowledge seeking is presented. These are called Inquiry and Dialogue respectively necessary tools in the quest of knowledge. Conversation becoming a part and parcel of life and culture of Mantra Age also known as Vedic age perhaps laid down the foundation of democracy and respect for individual thought and dignity of freedom of speech provided it is well within the limits of rules of conversation. The author has taken illustration from Ramayan and Mahabharata, two great epics from the knowledge traditions of Indian culture, to derive support from debate, dialogues and discussions. It was interesting to note that author has also highlighted the role of ideological conflicts and its effect on human psyche. Particularly, when despair and disappointment in one endeavor is eminent, then self-dialoguing occurs. In such moments of reflection, the quality of self narratives are shaped by the content of superordinate societal debates and dialogues as evident in the Ramayana and Mahabharata. This is also a critical point to be noted as to how through dialogues and debates one builds bridges and connections between different institutions of society and individual. Perhaps the four branches of learning and methodology as enshrined in Nayayadarshana shape the nature of debate evident in Mahabharata. The tradition of debate and dialogues in Mahabharata are centering on the eternal question related to purpose, destiny, life and death and morality. Finally, culminating in the super structure of Karma (Duty), Jnana, (Knowledge), and devotion (Bhakti). The consistent recurring theme of the debates turns out to be Dharma. Whether, it was a debate in the assembly of kings or debates in the war ground or faced with the issue of righteous behavior as in the case of Visvamitra facing death out of starvation and eating the dog meat. The debate on morality, dharma, life and death and righteous action are running through the entire text of Mahabharata. The second section of this chapter dealt with the age of arguments. Identifying the era of argumentation as great contributing force the emergence of various systems of philosophical knowledge schools and counter arguments against the various heterodox systems. The counter arguments primarily coming from Carvaka, Ajivaka, Buddhism and Jainism.

Just to exemplify the point, one of the assertions of Carvaka, is that Sat (being) came out of asat (non-being). The debates and discussion around opposite bipolarities of human mind and life was taken as potent ground for engaging in debates and discussions. Examining the various shades of debates with impressive illustration related to nature of knowledge, evidence, methodology and practice offers an extremely enriching journey into the tradition of debates and dialogues in Indian knowledge traditions in this section of the chapter.

The argument era is also marked by preserving the tradition of inquiry and investigation thereby giving rise to Buddha's dialectical method of discourse as an approach of dealing with contradiction and managing opposites. Propounding the doctrine of arguments as analytical methods classified them in four categories. Such a presentation offers a consolidated understanding of affirmation-negation dichotomy, division-analysis, question-counter-question and analogy of silence or to be set aside. Rejecting or avoiding the extremes, the middle path turning out to be the recommended approach in the Buddhist ways of dialoguing and discourses. The idea of protest in debate was found to be discouraged in Buddhist doctrine of debate and dialogues. Therefore, all the possible arguments must be attended to and therefore, encouraged the dialogical nature of his discourses.

The book under reference also embodied the diverse nature of debate available in Jainism. The preferred nature of discourse remains the multi-vocal and multilayered in the philosophy of Mahavira in Anekantvad. The theory of many-sidedness of reality each side having its own conditions and justifications, thereby, leaving no possibility of unilateral truth or any kind of fundamental truth. It would not be out of place to assert on the basis of the arguments presented in this section of the book is idea of inclusion rather than exclusion of different view points. The author has also made interesting analysis of Arthsastra of Kautilya for the nature of discourse and discussion. Declaring the text of Arthsastra as book of debates on polity, governance and management through the countering the arguments given in established schools of thoughts, like, Manu, Brihaspatiyas, Ausana and Bhardwaj etc., the text analysis brings forth a complete structural design for the analysis of Vada. The rich repertoire of tantrayuktis (mode of argumentation) has been enumerated in Kautilya

Arthsastra. Covering other knowledge texts and sources of materials, the author has covered a vast spectrum of debates, dialogues and discussions in various Buddhist tradition of knowledge including texts in Paliand dialogues of non-Budhhist thinkers.

The book embodied an interesting travelogue into the tradition of debate documented within Orthodox system of philosophy where, the debates and discussion took the form of fights, confrontation and challenge. The modes of verbal dialogues and written rejoinders were used to point and counter-point an argument. The author asserted that perhaps where the idea of Vada replaced the Rigvedic idea of Brahmodaya. The two schools, namely, the realist and idealist which are demarcated by the approach based on perception and rationality as the means of attaining knowledge. The nomenclature of proponents and respondents (Vadin and Prativadin), the nature of debates between Buddhist and Naiyayakias has been presented in a most enriching ways with rare brilliance and insights thereby opening up new window to the contemporary thinkers on the tradition of debates and view points.

The book posited an interesting reflection on the return of Carvakas which flourished between 770 to 830 CE. The most eminent thinker and debator of Carvaka Jayarasi who used discursive analogy to demolish the earlier schools of thoughts. Taking the arguments of Sankara whose journey of debate was labelled as Digvijay as another format of vada a brilliant illustrative detail with rich account of detail has made this book an essential reading. It is turning out to be verbal exchange of debate with well-known philosophers and proponents of various schools like, Baan, Dandin, Mayura, Abhinavgupta and many more who were the contemporaries of Sankara.

The third part of the chapter embodied the age of diversification, in which the author has taken up the tradition of Bhakti rather than philosophical rationality making an entry into the realm of traditional repertoire of debate. The beginning of Bhakti movement, which could also be seen as an approach of integration of various philosophical tradition of knowledge has been marked by the work of Madhava, Ramanuja and Vallabhacharaya, Chaitnaya and Tukaram. It gave rise to many newer concepts like Jiva, Sakshi and Buddhi and Chitsukhi through extension of concepts enshrined in the intellectual tradition of Advaita and Mimamsa. The book also

documented the interesting historical incidences which informs about the role of intellectual hegemony in establishing political and religious supremacy. Commenting on the works of Al-biruni where he has criticized Indian knowledge systems and textual materials of Greeks from a monotheistic perspective of Islam. Quite aptly, the author has put the debate in perspective for its criticism of lacking scientific perfection as complete misunderstanding of pluralistic outlook from a monotheistic vantage point.

Tracking down through the various events, writings and intellectual and evolutionary engagement related to dialogues and debates, the author has provided a rich repository of various debates in the tradition of knowledge. It was interesting to note that the socio-psychological factors contributed great deal in shaping the knowledge tempo of the time.

The third chapter entitled Vadashashtra: The theories of debate, dialogues and discussion provide a rich detail of the conceptual universe of vadashastra. The tradition has produced a thick set of technical terms, which enriched and refined the tradition of debate in India. The terms like yukti, tarka, smṛti, pratyaksha were coined during these times and got integrated in the intellectual repertoire of the time. Providing quite convincing evidences from the great epic Mahabharata, the author has culled out weaknesses and virtues of corrupting and liberating debates respectively. For example,during the course of a discussion in the assembly of scholars, the statements made by interlocutors should reflect qualities, like order, conclusion, and purpose. The healthy discourse requires a complete synergy among, speaker, listener and statement.

Drawing heavily from Caraka, Gautama, AsangaÆstheoretical systems of syllogism, the author has depicted glimpses of impre&sive account of knowledge and debate systems. For example, Asanga notion of debate has been categorized into six types, namely, vada, pravada, vivada, apavada, anuvada and avavada. It is highly informative collection of kinds of debate and syllogisms propounded by various scholars of the time. It bears sufficient testimony to great knowledge systems created through the tradition of debate in India.

Covering a detail section on Buddhist critique of the Naiyayika, the author has provided an enriching account of debate in Buddhist

and Jain philosophical systems. Enumerating codes for conducting the debate, it was quite revealing to note that holding a debate is treated at par with organizing a Yagyna Ritual (page 185,4rth para).

The fourth chapter depicted the account of philosophical debate where conflict between action, knowledge and devotion. The dialectic between two opposites like empiricism and renunciation is quite a point of discussion in Indian Intellectual tradition. In the similar vein, the debate between idealism and materialism has given rise to a perpetual debating issue demonstrating the rich engagement with different positions taken up by scholar of the time. The idea of salvation or moksha was treated by all schools of thoughts with diverse interpretation. These systems also differed with respect to the process, ways and means of attaining salvation. It provided a good account to the readers as to how the notion of salvation was subjected to varied implications.

The last two chapters contained the socio-political and legal debate sand Vada in literary theory. Beginning with debates on polity and governance, and caste system, the author has connected the debate on these issues with dharamshastra. Law of inheritance, women's right, marriage, process of judicial proceedings have caught the imagination of debaters over many aspects of practical (vyavaharaika) reality. The chapter on literary theory and practice related debate. Covering a vast territory of poetics and dramatics, the author has done a commendable work of putting a comprehensive perspective of vada in kavya and kavya in vada. The appealing aspect of this debate is authentic presence of multitude of voices at times antagonistic to each other yet creating a rich repository of possibilities. Even, one is allowed to challenge any established thought including God who is argued to exist on the psychosis of fear.

Finally, the last chapter entitled "Vada in Modern Age" which one can always declare as contentious term called modern. Yet the author has used the term modern to identify a time period spanning from colonial period to contemporary times. With particular reference to eighteen and nineteenth centuries which aytghor has declared as the most fertile period of Indian intellectual debate and discourses. Aptly highlighting the works of Scholars like, Raja Ram Mohan Roy, Swami Narayan, Tagore, Swami Dayananad Saraswati and Mahatma Gandhi including Ambedkar and influences cast by British

scholars through their translation of Gita and Manusmiriti how the debate on India's identity was shaped. The role of pundits in reformulation of Vedas under colonial influences gave rise to debates and perhaps paved the ways for the emergence of democratic form of governance in India. It is strongly recommended for the scholars who are interested in looking into the intellectual antecedents; the book provided enough cues and material to develop an authentic thesis related to establishment of hierarchy of knowledge. Quoting Edward Said of orientalism for his portrayal of a view about the Indian knowledge system, the author has contested it as too monolithic and homogenous.

Drawing from the works of many scholars, the book has provided a rich description of influences of Dayanand Saraswati, Ramabai, BalShastri and many scholars shaped the debate tradition in Indian continent. Referring to the recorded debates related to VidyaNivas Mishra and Rafael Dieste, a Spanish writer, which oped up the possibility of meaningful dialogue with nation and culture. This has been referred as dialogue between "a representative of critical modernity and genuine traditions". It helped in creating bridges and better understanding of strengths and weaknesses of two distinct cultures.

Finally, the book has turned out to be scholarly exposition of various intellectual traditions of intellectual and progressive debates and dialogues in Indian tradition. The critical reflections and its influences in shaping the intellectual capital of India has been very aptly discovered and establish in the terminology of contemporary narrative by the author. He has coved a vast landscape of philosophy, religion, logic, economics, political science, psychology and literature. It was with great fascination, we enjoyed reading the book.

✦✦✦